तुलनात्मक साहित्य हिंदी और उड़िया के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. अरुण होता

LIBRARY
M ... MAHAVIDYALAYA
Call No.....
ACC No. 7226 Date 16.9.08

प्रकाशक
ज्ञान भारती
4/14 रूप नगर
दिल्ली-110007

●

प्रथम संस्करण : 2008

●

© डॉ. अरुण होता

●

मूल्य : 160.00

●

मुद्रक
विशाल प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

●

ISBN 81-85478-63-5

e-mail : sales@nationalpublishinghouse.com
Fax : (011) 23254407

प्राक्कथन

आज पूरी दुनिया मुट्ठी में समा गयी है, परंतु मानवीयता कल्पना-लोक में स्थायी रूप से विराजमान होने जा रही है। मनुष्य मनुष्य से कट रहा है। अलग-थलग हो रहा है। संचार क्रांति ने संपर्क के तमाम साधन जुटाए हैं। संपर्क बढ़ते चले जा रहे हैं। संबंध घटते जा रहे हैं। संवादहीनता की स्थिति चारों ओर है। परमार्थ अध्यात्म का विषय बन गया है। स्वार्थ अपनी उत्तुंग चोटी पर सवार है। संत्रासवाद से संपूर्ण विश्व कवलित होते चला जा रहा है। सांप्रदायिकता, प्रादेशिकता, अलगाववाद, विखंडनवाद का साम्राज्य व्याप्त है। कभी भाषा के नाम पर तो कभी धर्म के नाम पर, कभी संप्रदाय के आधार पर तो कभी जाति के आधार पर, मृत्यु की तांडवलीला नग्न नृत्य कर रही है। सभी अपनी श्रेष्ठता को जाहिर करने के मोहांध में डूबे हुए हैं। राष्ट्रीय एकता के सामने खतरे के बादल मंडरा रहे हैं। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतीय साहित्य में निहित मूलभूत एकता को उजागर करना परम आवश्यक प्रतीत होता है।

भारत एक बहुभाषी देश है, इसलिए तुलनात्मक साहित्य का अत्यधिक महत्त्व है। अत: साहित्यिक अध्ययन के आधार पर अनेक भाषाओं के पारस्परिक संबंधों को रेखांकित किया जाता है। अनेकता में एकता का अन्वेषण तुलनात्मक अध्ययन का मुख्य लक्ष्य होता है। विभिन्न भाषाओं तथा उनके साहित्य के अध्ययन से पारस्परिक भाव-विनिमय सहज होता है। सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश के साम्य-वैषम्य स्पष्ट होते हैं। विशाल भारत में भावगत एकता की प्रतिष्ठा हेतु तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। हिंदी भाषा और साहित्य को केंद्र में रख कर प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यिक अध्ययन से राष्ट्रीय एकता अखंड बनी रह सकती है।

भारतीय मनीषा की आत्मा समन्वय है। इसका आधार सामासिक संस्कृति है। किसी भी जातीयता का साहित्य एक अंग होता है अंगी संस्कृति का। इस दृष्टिकोण से यदि वर्तमान समय में हम संस्कृतियों के बीच संवाद की स्थिति उत्पन्न करना चाहें तो हमें उनके साहित्यिक संबंधों की जांच पड़ताल करने की बड़ी आवश्यकता है। इस संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक 'तुलनात्मक साहित्य : हिंदी और उड़िया के परिप्रेक्ष्य में' हिंदी तथा उड़िया जातीयताओं के मध्य संवाद सेतु निर्मित करने की दिशा में एक प्रयास है। हिंदी एवं उड़िया की आत्मा और हृदय एक है। इसकी यथासंभव पुष्टि करने की भी कोशिश की गयी है। इस सम्मोहक क्षेत्र में शोध की अतुल संभावनाएं हैं, जिन्हें भविष्य में विद्वत्जन उजागर करने का प्रयत्न कर सकते हैं।

—अरुण होता

अनुक्रम

	प्राक्कथन	[v]
1.	तुलनात्मक साहित्य की आवश्यकता	1
2.	भक्तिकाव्य का तुलनात्मक संदर्भ : हिंदी एवं उड़िया के परिप्रेक्ष्य में	10
3.	हिंदी एवं उड़िया के ऐतिहासिक उपन्यास	19
4.	द्विवेदी युग एवं सत्यवादी युग	30
5.	फकीरमोहन एवं प्रेमचंद : यथार्थ के आईने में	40
6.	छायावाद एवं सबुजयुगीन कविता : तुलनात्मक अध्ययन	51
7.	निराला एवं कालिंदीचरण की कविताएं : एक तुलनात्मक दृष्टि	63
8.	प्रगतिवादी चेतना : हिंदी और उड़िया कविताओं के परिप्रेक्ष्य में	73
9.	हिंदी एवं उड़िया नाटक : संदर्भ—आदि एवं मध्य पर्व	84
10.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी एवं उड़िया के प्रतीक नाटक : परंपरा, पृष्ठभूमि एवं तुलना	93
11.	आकाश एवं पृथ्वी के कवि सीताकांत	103

1

LIBRARY
P. M. S. MAHAVIDYALAYA
Coll No.....
ACC No. 7226 Date 16-9-08

तुलनात्मक साहित्य की आवश्यकता

'तुलना' शब्द का अर्थ सादृश्य निरूपण है। किन्हीं दो वस्तुओं, स्थानों, व्यक्तियों, समय, विचारों, घटनाओं, विचारधाराओं में सादृश्य निरूपण तुलना कहलाता है। पुनः अर्थालंकार के चार अंगों में से सादृश्य एक है। उपमान एवं उपमेय की समानता व्यंजित करने हेतु प्रयुक्त शब्द सादृश्यवाचक शब्द कहलाता है।

सादृश्य के दो प्रकार हैं :

1. आकार एवं प्रकार में समानता
2. गुण एवं धर्म में समानता

उपमा का सादृश्य चमत्कारपूर्ण होता है। चारूता, चमत्कारिता और रसार्द्रता सादृश्य के तत्त्व हैं। काव्य में सादृश्य की सफलता इन तत्त्वों पर निर्भर करती है। चारूता का अर्थ सुंदरता है। यह साहित्य को 'कांतासम्मत उपदेश' में परिवर्तित करती है। चमत्कारिता पाठकों को अन्य उपलब्धि प्रदान करती है। सत्साहित्य के पठन पाठन से आनंदानुभूति होती है। रसार्द्रता से रसतत्त्व अभीष्ट है। रस ही साहित्य का मूल लक्ष्य है। यह ब्रह्मानंद सहोदर है। सादृश्यकथन में रसार्द्रता अत्यंत आवश्यक होती है।

सादृश्य निरूपण हेतु तुलना की आवश्यकता तो होती है। इससे उत्कर्ष तथा अपकर्ष का भी नियामक होता है। भारतीय अलंकार शास्त्र में उपमा, उत्प्रेक्षादि अर्थालंकार से यह तुलना संभव होती है।

दसवीं शताब्दी के पंडित राजशेखर ने इस संदर्भ में अपने ग्रंथ **काव्य मीमांसा** की विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने चोरी न की हो। ऐसा कोई व्यापारी नहीं जिसने चोरी न की हो परंतु जो इसे छिपा सकते हैं वे निंदा के मुख पर भस्म लगा कर सानंद जीवन व्यतीत करते हैं।[1]

कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन ने चित्रकला के भेद के बारे में उल्लेख करते हुए सादृश्य कथन का महत्त्व स्वीकारा है :

"रूपभेदः प्रमाणानि भावलावण्ययोजना
सादृश्यं वर्णिकाभेदः इति चित्रं षड़ंगकम्।"

अर्थात, "रूपभेद अभिप्राय अंग-प्रत्यंग की योजना है। प्रमाण का अर्थ अंग सौष्ठव, भाव का अर्थ भाव व्यंजना, लावण्य का अर्थ है माधुर्य, सुकुमारता आदि। सादृश्य का अर्थ वर्ण वस्तु की अनुरूपता, वर्णिकाभेद का अर्थ रंगों की विविधता है।"[2] स्पष्ट है कि सादृश्य अथवा अनुरूपता चित्रकला के छह अंग सौष्ठवों में से अन्यतम है।

तुलना को अनन्वय भी कहा जाता है। इसमें वस्तु अथवा व्यक्ति की अनन्य सामान्यता प्रतिपादित होती है।

दो भिन्न वस्तुओं में कुछ सामान्य धर्म ढूंढ़ने का प्रयास किया जाता है। साहित्य में तुलना करने की प्रवृत्ति का क्षेत्र व्यापक होता है। व्यक्ति, समय, भाषा, रचना, समाज अथवा भाव की दृष्टि से साहित्य में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की तुलना से पारस्परिक संबंध दृढ़ होते हैं। रूपक, व्यतिरेक, उपमान, अनन्वय आदि के आधार पर तुलना करने से, संबंधित भाषा साहित्य के स्वातंत्र्य का स्वरूप प्रस्तुत होता है। व्याकरण की तुलना से साहित्यिक तुलना व्यापक होती है।

साहित्य में तुलना की प्रवृत्ति अति प्राचीन है। परंतु आधुनिक आलोचना पद्धतियों में से तुलनात्मक पद्धति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

तुलनात्मक (Comparative) शब्द की व्युत्पत्ति

अंग्रेजी के Comparative शब्द का रूपांतरण तुलना है। अंग्रेजी में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग मैथ्यू अर्नाल्ड ने एम्पियर के शब्दों **इस्तवार कोंपारातीव**, का अनुवाद करते हुए सन् 1848 में किया था। फ्रांसीसी में इस शब्द का प्रयोग सादृश्य के लिए किया जाता है। अर्थात भिन्न भिन्न साहित्य में इसका प्रयोग विभिन्न रूप में हुआ है। इस संदर्भ में रेनेवेलक ने कहा है : "तुलना एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग आलोचना और विज्ञान सभी में किया जाता है और यह साहित्यिक अध्ययन की अपनी विशिष्ट प्रक्रिया को संतोषजनक ढंग से व्यक्त नहीं कर पाता। साहित्यों के बीच या यहां तक कि आंदोलनों, लेखकों और कृतियों के बीच तुलना को साहित्यिक इतिहास का मुख्य विषय शायद ही कभी बनाया गया हो। हालांकि **एफ सी ग्रीन की माइन्यूट** जैसी कोई पुस्तक जिसमें अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य के विविध पहलुओं की तुलना की गयी है।"[3]

साहित्य में पारस्परिक तुलना करने की शैली तुलनात्मक कहलाती है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से नये द्वार खुलते हैं। सन् 1855 में **वाल्ट ह्विटमैन** ने अपने ग्रंथ **लीवस ऑफ ग्रास** में कहा था कि अतीत, वर्तमान एवं भविष्य

एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं बल्कि ये एक ही धागे में गूंथे गये हैं। अतीत का उज्जीवन ही भविष्य के मार्ग को उन्मुक्त करता है।'

साहित्य में तुलना के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **टी.एस. इलियट** ने कहा है कि आलोचक के मुख्य अस्त्र होते हैं तुलना एवं विश्लेषण। परंतु इनका प्रयोग अत्यंत सावधानी से करना चाहिए।

आलोचक के लिए निम्नलिखित तत्त्वों का ज्ञान अपेक्षित होता है :

(*i*) आलोच्य साहित्य, समाज एवं जनजीवन का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है।

(*ii*) आलोच्य साहित्य के पारस्परिक संबंध को समझना आवश्यक है।

(*iii*) समकालीन राष्ट्रीय जीवन, सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों का ज्ञान होना चाहिए।

(*iv*) आलोच्य भाषाओं के शब्द व्युत्पत्तिपरक ज्ञान के साथ साथ व्याकरणिक जानकारियां अपेक्षित हैं।

(*v*) राष्ट्रीय कल्पना का मानसिक विश्लेषण अर्थात काल्पनिक उन्नत समाज जीवन के प्रति भावात्मक आवेग होना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों के बिना तुलनात्मक अध्ययन त्रुटिपूर्ण हो सकता है। इस संदर्भ में आलोचक को अत्यंत सावधानी से अध्ययन करना होता है।

तुलनात्मक साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

सन् 1954 में तुलनात्मक साहित्य की एक अंतर्राष्ट्रीय परिषद की स्थापना हुई। सन् 1955 में इसका पहला अधिवेशन वेनीस नगरी में संपन्न हुआ। एतद्पूर्व विश्वकवि रवींद्रनाथ ने अपने 'विश्व साहित्य' शीर्षक निबंध में लिखा था : ''यह धरती मेरा, तुम्हारा और उनका खेत नहीं है। धरती को ऐसा सोचना अत्यंत ग्राम्य भावना है। ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मेरी, तुम्हारी या उनकी रचना नहीं होता। सामान्यतया हम साहित्य को ऐसी ग्राम्य भावना के रूप में स्वीकार करते हैं। उसी ग्राम्य संकीर्णता से अपने को मुक्त करके विश्व साहित्य में विश्व मानव को देखने का लक्ष्य हमारा उद्देश्य होना चाहिए। प्रत्येक लेखक की रचना में किसी संपूर्णता को अपनाना एवं उसी संपूर्णता में मानव की अभिव्यक्ति के प्रयास का संबंध स्थापित करना है।''

यूरोप में पुनर्जागरण काल में मानवीय ऐक्य का पुनरुद्धार शुरू हुआ। गोदे (1740-1832) ने विश्व साहित्य की संकल्पना दी थी। यूरोपीय विश्वविद्यालय में भाषा साहित्य विभाग के अलावा तुलनात्मक साहित्य के भी विभाग खुले। इटली, फ्रांस के

पश्चात अमेरिका के विश्वविद्यालयों में तुलनात्मक साहित्य का पठन पाठन शुरू हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तुलनात्मक अध्ययन शुरू हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तुलनात्मक साहित्य एक स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। विभिन्न भाषाओं के साहित्य में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके उनमें निहित सूक्ष्म तथा स्वस्थ संबंध के सूत्र की खोज करना इसका मुख्य कार्य बना। साहित्य में समाज ही नहीं देश का इतिहास भी प्रतिबिंबित होता है। इस दृष्टि से तुलनात्मक साहित्य में किसी काल का सामाजिक प्रतिफलन होता है।

अत: सांस्कृतिक संबंध की स्थापना हेतु तुलनात्मक साहित्य की उपादेयता भी महत्त्वपूर्ण है। तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन दो प्रकार से किया जाता है : प्रभाव अध्ययन और समांतराल अध्ययन।

भारतीय साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में काव्य नाटक एवं दर्शनशास्त्र का, मध्ययुग में मुसलमानी शासकों का एवं आधुनिक काल में अंग्रेजी साहित्य, स्वाधीनता आंदोलन का व्यापक प्रभाव पाया जाता है।

एक ही प्रकार की युगचेतना, दार्शनिक विचार, विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा सामाजिक आंदोलन किसी देश के साहित्य को समांतराल रूप से प्रभावित करते हैं। तमिल भाषा के तिरूबल्लुअर एवं कबीर के समय में बहुत बड़ा अंतर है। परंतु दोनों की वाणियों में निहित भारतीय संस्कृति के मूल रूप को ढूंढ़ा जा सकता है। समांतराल अध्ययन से भारतीय संस्कृति के मूल प्राण—**अनेकता में एकता**—को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस संदर्भ में शमशेर सिंह नारूला का अभिमत है : ''बगैर सांस्कृतिक विशेषताओं को जाने भाषाओं में सादृश्य ढूंढ़ना भ्रमपूर्ण है। क्योंकि भाषा हमारे बौद्धिक जीवन की अपेक्षा, जो सामान्यत: ऊपरी ढांचे का रूप धारण करता है, कहीं अधिक इन विशेषताओं के द्वारा प्रभावित होती है। भाषा एक आधार से दूसरे आधार पर प्रसारित होती रहती है और एक आधार से दूसरे से प्रतिस्थापित हो जाने पर परिवर्तित नहीं होती, जैसा कि ऊपरी ढांचे में होता है। इसलिए जनता की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विशेषताएं जो उसकी भौतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण जन्म लेती हैं, धर्म, रीतियां, सामाजिक स्वभाव इत्यादि की अपेक्षा भाषा पर अधिक गहरा प्रभाव डालती हैं।''[15]

साहित्य में तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता

साहित्य कालबद्ध नहीं होता। वह कालजयी होता है। अत: विभिन्न भाषाओं के साहित्य, विभिन्न कालों और विभिन्न रचयिताओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इससे (1) विभिन्न देशों एवं जातियों के बीच पारस्परिक भाव-

विनिमय सहज होता है; (2) सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश में निहित अंतर स्पष्ट होता है; (3) दोनों साहित्य की विशेषताएं स्पष्ट होती हैं; (4) सांस्कृतिक एकता की प्रतिष्ठा का मार्ग उन्मुक्त होता है; तथा (5) अनुवाद एवं आदान-प्रदान के माध्यम से दोनों भाषाएं एवं साहित्य समृद्ध होते हैं।

सामाजिक आवश्यकता

तुलनात्मक अध्ययन की उल्लेखनीय सामाजिक उपयोगिता है। इससे शोधार्थी की दृष्टि विकसित होती है।

साहित्य आनंद के साथ अनुभूति भी प्रदान करता है। इसके क्षेत्र में व्यापकता लाने के लिए किसी एक भाषा के साथ दूसरी भाषा के साहित्य की तुलना अपेक्षित है। इससे आलोच्य साहित्य द्वय में होने वाले साम्य एवं वैषम्य निरूपित होते हैं। किसी अंचल विशेष के धर्म, आचार-विचार, चाल-चलन, शिक्षा-दीक्षा, आस्था-विश्वास, व्यापार-वाणिज्य तथा मूल्यबोध आदि के बारे में भी अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अध्ययन से दोनों भाषा साहित्य में सादृश्य, वैषम्य तथा विशेषताएं भी सहज रूप से स्पष्ट हो जाते हैं। शोधार्थी अपने भाषा साहित्य की उन्नति के साथ तुलनीय साहित्य की विशेषताओं के बारे में अध्ययन कर सकता है। इन्हीं कारणों से तुलनात्मक अध्ययन की सामाजिक आवश्यकता स्वीकृत है।

मनोवैज्ञानिक आवश्यकता

तुलना में एक मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है। कभी यह व्यक्ति को हीनमन्यता से ग्रसित करता है तो कभी उसके व्यक्तित्व को उदार एवं सहनशील बनाता है। तुलनात्मक अध्ययन करते समय शोधार्थी मातृभाषा के प्रति अधिक जागरूक होता है। मातृभाषा के गौरव तथा विशेषताओं के प्रति सचेतन होता है। पूर्ववर्ती आलोचकों के मतों का उपयोग करता है तथा अनआलोचित पहलुओं की ओर ध्यान देता है। इससे आलोचना का क्षेत्र व्यापक होता है तथा नये मार्ग का उन्मेष होता है। इस संदर्भ में कहा भी गया है : "The idea that a work of literature yields a richer significance when placed alongside another, each serving as a way of talking about the other has more to do with the new criticism."[6]

साहित्यिक आवश्यकता

विभिन्न भाषाओं, धर्मों तथा विचारधाराओं के पारस्परिक संबंध पर ध्यान केंद्रित होने से तुलनात्मक साहित्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गयी है। विभिन्न प्रांतों के सामाजिक,

सांस्कृतिक तथा राजनीतिक साम्य-वैषम्य, लोगों की जीवन शैली तथा भाषाओं के स्वरूप उद्‌घाटन हेतु तुलनात्मक साहित्य की आवश्यकता पायी जाती है। किसी भाषा विशेष के दो रचयिताओं के साहित्य का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। साहित्य में मुख्यतया तुलनात्मक मूल्यांकन होता है, अतः इसे सांस्कृतिक भी कहा जाता है। दो अथवा उससे अधिक सांस्कृतिक परंपरा के अंतर्गत साहित्यकारों का पारस्परिक संबंध संभव होता है। जैसे, वाल्मीकि के साथ होमर, कालिदास के साथ भर्जिल, सोफोक्लिस के साथ शेक्सपीयर के साहित्य की तुलना भी तुलनात्मक साहित्य के अंतर्गत है। अतः साहित्यिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु साहित्य की विशेष भूमिका है।

तुलनात्मक साहित्य में अनुवाद की भूमिका

भाषा संस्कृति का वहन ही नहीं करती वह उसका धारण भी करती है। भाषा बहता नीर है। यह परिवर्तनशील है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए भाषा का अनुवाद अत्यंत आवश्यक है। इंद्रनाथ चौधरी के शब्दों में : "Comparative perspective looks at all literature as one organic process, a continuous and cumulative whole. That being the reason one can hope that the comparative method can be helpful in cross-cultural communication in translation."[7]

अनुवाद के माध्यम से साहित्य विकसित भी होता है। इसमें भाषा के भौगोलिक तथा सामाजिक परिवेश का ध्यान रखना आवश्यक है।

मूल भाषा से अनूदित भाषा की दूरी को दूर करने का प्रयास होना जरूरी है। अच्छा अनुवाद पुनर्सृजन होता है। तुलना की निष्पक्षता के लिए स्रोत भाषा तथा लक्ष्य भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। तुलना करने का अर्थ अनुवाद प्रस्तुत कर देना नहीं है। उसके मर्म, आदर्श तथा महत्त्व को उपलब्ध करते हुए नये सामाजिक परिवेश में उसकी विशेषताएं प्रतिष्ठित करना भी है। इस संदर्भ में रेनेवेलेक की मान्यता है : "फ्रांसीसी साहित्य में शेक्सपीयर और अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में शेक्सपीयर के अध्ययन में बादलेयर पर पोप के प्रभाव और पो पर ड्राइडन के प्रभाव को ले कर किये गये अध्ययनों के बीच पद्धति विषयक कोई भेद नहीं है। यदि समूचे राष्ट्रीय साहित्य से अलग करके दो साहित्य के बीच तुलना की जाये तो इसमें प्रायः स्रोतों और प्रभावों, प्रतिष्ठा और लोकप्रियता जैसी बाहरी समस्याओं की ओर झुकाव हो जाया करता है। इस प्रकार के अध्ययनों में किसी एक कृति का विश्लेषण और परख करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। इसके स्थान पर किसी महत्त्वपूर्ण कृति को ले कर इस तरह के अध्ययन किये जाते हैं कि इसके

कितने अनुवाद हुए, और किन किन लेखकों ने इसका अनुसरण किया जैसा कि प्राय: द्वितीय श्रेणी के लेखक करते हैं या किसी महान कृति का पूर्व इतिहास ढूंढ़ा जाने लगता है कि इसकी वस्तु, विषय और कलारूप किन रूपों में पहले विद्यमान था, यह कैसे उस देश में पहुंचा और फैला।"[8]

तुलनात्मक साहित्य को विवादास्पद मुद्दों से बचाये रखने के लिए मूल ग्रंथ के महत्त्व को स्वीकार करना होगा तथा स्वार्थपरता से दूर रहना होगा। विषय के विश्लेषण से प्राप्त स्थूल सत्य से सूक्ष्मतर सत्य की ओर उन्मुख होना होगा। यह कार्य किसी अनासक्त योगी की तरह संपन्न करना होता है।

प्राचीन रोम साहित्य पर ग्रीक साहित्य का, भारतीय प्रांतीय साहित्य पर ग्रीक साहित्य का, भारतीय प्रांतीय साहित्य पर संस्कृत साहित्य का, आधुनिक साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का, वड्र्सवर्थ पर रूसो का, कॉलरिज पर कांट का तथा शेली पर शेगेल का प्रभाव स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। भारत में रामकथा का तुलनात्मक अध्ययन हेतु वाल्मीकि, बलरामदास, तुलसीदास, कृत्तिवास आदि के राम काव्य की चर्चा अपेक्षित है। प्रेमचंद के साथ फकीरमोहन एवं बंकिमचंद्र तुलनीय हैं। प्रेमचंद के **गोदान** के साथ फकीरमोहन का **छमाण आठगुंठ** की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार कालिदास के **अभिज्ञानशांकुतलम्** के साथ शेक्सपीयर के **हेमलेट** की तुलना अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को पार कर जाती है। कालिदास को भारत का शेक्सपीयर भी कहा जाता है। इसका पहला प्रयोग विलियम जोन्स ने सन् 1789 में अभिज्ञानशाकुंतलम् के अंग्रेजी अनुवाद के संदर्भ में किया था।

तुलनात्मक अध्ययन की प्रासंगिकता

किसी भी कवि अथवा लेखक की रचना का स्वतंत्र मूल्यांकन संभव नहीं है क्योंकि वह अपने काल अथवा अपनी परंपरा से अलग नहीं रह सकता, इसलिए उसके पूर्ववर्ती, समकालीन एवं परवर्ती कवियों से उसकी तुलना करना आवश्यक है। विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों की तुलना करते समय उन भाषाओं की सांस्कृतिक परंपराओं के बारे में जानकारी अपेक्षित है। प्राचीन, लोकभाषा एवं लोक साहित्य की आधुनिक साहित्य से तुलना करते समय उसके भाषा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी विचार किया जाता है। साहित्य में तुलना के बारे में आलोचक जॉन फ्लेचर का कहना है :

"Comparison and contrast are the tools which help in forming the method of comparative criticism. It is generally synchronic and diachronic because it crosses time and space. Of course, chronology

cannot be ignored, but be blinded by it, is to miss the significant parallel across time and space and the interesting differences."[9]

तुलनात्मक साहित्य में आलोचना किसी समय, लेखक अथवा रचना तक सीमित नहीं रहती। विकसित राष्ट्रों में तुलनात्मक अध्ययन पर विशेष महत्त्व दिया जाता है। यह मनुष्य की अभीप्सा को सार्थकता प्रदान करते हुए देश के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। इससे सामाजिक मूल्यबोध तथा मनुष्य के गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा होती है।

भारतीय संविधान में स्वीकृत सभी भाषाओं के बीच सांस्कृतिक एकता की स्थापना के उद्देश्य के लिए तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन को अधिक महत्त्व प्रदत्त है। हिंदी के साथ दूसरी भाषाओं के साम्य-वैषम्यों की तुलना की जा रही है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य में काल एवं प्रवृत्ति के अनुसार समानताएं होती हैं तो भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि दृष्टिकोण से विषमताएं होती हैं। इस संदर्भ में डॉ. रामेश्वरलाल ने कहा है : "हिंदी भाषा और साहित्य को केंद्र में रख कर, उसे भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता का माध्यम बनाते हुए, भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी अब अधिक वेग और गंभीरता से होने लगा है। इस अध्ययन के अंतरालों में से भारतीय आत्मेक्य के बहुमूल्य उपादान प्रस्फुटित होंगे, इसमें संदेह नहीं।"[10]

भारत के नये सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के प्रति अभिरुचि बढ़ रही है। विभिन्न जाति, धर्म, शिक्षा, संप्रदाय, भाषा, विचारधारा, राजनीति एवं जीवन शैलियों के आधार पर भारत विभाजित है। इस विशाल भारत में भावगत एकता की प्रतिष्ठा के लिए तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन उल्लेखनीय सिद्ध होगा। राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में ऐसे अध्ययनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी। भाषा एवं साहित्य को केंद्र में रख कर भारत की सांस्कृतिक एकता की रक्षा की जा सकती है। केवल सांस्कृतिक नहीं, भावगत तथा मनोवैज्ञानिक एकता की प्रतिष्ठा हेतु तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन सहायक हो सकता है। तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन भाषा साहित्य के महत्त्व को विकसित करता है। इन्हीं कारणों से तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन प्रासंगिक है।

संदर्भ

1. काव्य मीमांसा, सर्ग 11, पृष्ठ 194
2. प्रो. विश्वनाथ प्रसाद, कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परंपरा, पृ. 22
3. रेनेवेलक, साहित्य सिद्धांत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 61
4. चिंतामणि बेहेरा, 'तुलनात्मक बनाम सार्वजनीन साहित्य', *समावेश, पूजा विशेषांक*, 1974, पृ. 369-370

5. शमशेर सिंह नरूला, हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. 127
6. Ed. Roger Flower, A Dictionary of Modern Critical Terms, पृ. 35
7. Indranath Choudhury, Comparative Indian Literature: Some Perspectives, पृ. 102
8. रेनेवेलक, साहित्य सिद्धांत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 64
9. Contemporary Criticism, पृ. 06
10. डॉ. रामेश्वरलाल खंडेलवाल, शोध : तत्त्व और दृष्टि, पृ. 113

2

भक्तिकाव्य का तुलनात्मक संदर्भ हिंदी एवं उड़िया के परिप्रेक्ष्य में

मध्य काल में भागवत धर्म का प्रचार एवं प्रसार हुआ। भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ। इस भक्ति आंदोलन की प्रवृत्ति लोकोन्मुखी थी। इसलिए भक्तिभावना की अभिव्यक्ति लोक प्रचलित भाषाओं में होने लगी। विभिन्न प्रांतों की भाषाओं और बोलियों में भक्तिभावना प्रकट हुई। फलस्वरूप मध्य काल में विपुल भक्ति काव्य जनभाषा में सृजित हुआ। इस संदर्भ में उड़िया और हिंदी भक्ति साहित्य में निहित साम्य वैषम्यों पर आलोकपात करना अपेक्षित है। उड़िया साहित्य में सोलहवीं शती के प्रथमार्ध से अठारहवीं शती तक की अवधि को भक्ति काल कहा जाता है। हिंदी में चौदहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक भक्ति काल की समय सीमा मानी जाती है। स्पष्ट है कि हिंदी तथा उड़िया में लगभग दो सौ वर्षों तक भक्ति की धारा साथ साथ प्रवाहित होती रही।

हिंदी साहित्य में सगुण भक्तिधारा एवं निर्गुण भक्तिधारा हैं। पुनः सगुण की दो प्रवृत्तियां रामाश्रयी एवं कृष्णाश्रयी शाखाएं हैं। निर्गुण के अंतर्गत ज्ञानमार्गी एवं प्रेममार्गी साधन प्रवृत्तियां विकसित हुई हैं। परंतु उड़िया भक्तिकाव्य में सगुण, निर्गुण अथवा ज्ञानमार्गी या प्रेममार्गी भावधारा अलग अलग रूप से विकसित नहीं हुई हैं। सगुण एवं निर्गुण, रामभक्ति और कृष्णभक्ति सभी एकासार हो गये हैं। इसका कारण यह है कि उड़ीसा के निवासियों का आराध्यदेव जगन्नाथ है। राम, कृष्ण, सगुण, निर्गुण, आदि सभी जगन्नाथ में एकीभूत हो गये हैं। वह 'शून्य पुरुष' है तो 'निरंजन' भी है। हिंदी के भक्ति काल में 'अष्टछाप' के कवियों के साथ साथ जायसी, तुलसी, कबीर जैसे भक्तकवियों ने साहित्य को समृद्ध किया तो उड़ीसा में जगन्नाथ दास, बलरामदास, अनंतदास, अच्युतानंददास एवं यशोवंत दास—पंचसखा भक्तकवियों ने भक्तिभावना की अभिव्यक्ति की है। पंचसखाओं के लिए जगन्नाथ राम-कृष्ण, सगुण-निर्गुण आदि

का एकाकार रूप है। 'श्रीमद्भागवत' में कवि जगन्नाथ दास ने जगन्नाथ महाप्रभु को अवतारी और अवतार के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने कृष्ण की जगह जगन्नाथ का नामोल्लेख किया है :

''तेरे गर्भ में हैं जगन्नाथ। सौभाग्यवश हुए हैं उदित।[1]
भींगते देख कर जगन्नाथ। फन से ढंकते हैं अनंत।''[2]

कवि अच्युतानंद दास के अनुसार जगन्नाथ में ही सारे अवतार लीन हो गये हैं। इसलिए उन्होंने जगन्नाथ की लीलाओं का गायन किया है। उन्हें लीला के लिए रत्न सिंहासन पर विराजमान किया है :

''दस अवतार इसी दारूब्रह्म रूप में ही है लीन
साक्षात ईश्वर हैं लीला के लिए रत्न सिंहासन पर आसीन।''[3]

पंचसखा काल में जगन्नाथ साकार तथा निराकार, ज्योति रूप तथा सदानंद स्वरूप चित्रित तो हुए ही; परवर्ती काल में भी जगन्नाथ को सोलह कलाओं से परिपूर्ण माना गया जो सूरदास के 'नटवर नागर, मोहिनी मूरत' वाले कृष्ण का स्मरण होता है। दिवाकर दास ने अपने 'जगन्नाथ चरितामृत' में जगन्नाथ को सोलह कलाओं से पूर्ण बताते हुए जगन्नाथ की एक कला से कृष्ण का अवतार होने की बात कही है। इस दृष्टि से जगन्नाथ को अवतारी और कृष्ण को अवतार स्वीकारा गया है :

''श्री जगन्नाथ की हैं सोलह कलाएं
नन्दजू के सुत हैं उनकी एक कला।''[4]

सूरदास के कृष्ण, तुलसी के राम, कबीर के राम आदि का समन्वित रूप पंचसखायुगीन जगन्नाथ में प्राप्त होता है। भक्तकवियों ने साकार एवं निराकार को एक ही सूत्र में पिरो दिया है। हिंदी साहित्य में कबीर, दादू, नानक, रैदास, जायसी आदि कवियों ने साकार रूप का खंडन किया है तो सूर, तुलसी, मीरा आदि ने उसका मंडन किया है। दूसरी ओर उत्कलीय कवियों ने अवतारवाद के घेरे में रह कर, विविध लीलाओं में डूब कर भी निराकार की साधना की है। उन्होंने परमात्मा के तत्त्व से परिचित होते हुए भी उसके ऐश्वर्य को स्वीकारा है। इन कवियों ने 'शून्य पुरुष' को जानते हुए भी उसके वैभव रूप की मान्यता दी है :

''शून्य पुरुष रहता है उदासी में
शून्य पुरुष रचता है सारी मायाएं
शून्य पुरुष है दयालु

शून्य पुरुष है कृपालु
है वह घट घट में।''[5]

हिंदी साहित्य में कबीर ने ईश्वर को जननी, स्वामी, साहब जैसे प्रतीकात्मक शब्दों से जोड़ा है। परंतु प्रतिमा पूजा का वे विरोध करते हैं। आत्मा की पवित्रता में सारे तीर्थ विद्यमान होते हैं। इन तीर्थों के दर्शन के लिए मथुरा-वृंदावन, मक्का-मदीना जाने की आवश्यकता को ठुकराते हैं। गुरु नानक ने भी सगुण और निर्गुण की एकता पर बल देते हुए कहा है :

''नैना बैन अगोचरी, श्रवणा सरणि सार।
बोलन के सुख कारणे, कहिए सिरजनहार।''[6]

संत ज्ञानेश्वर ने सगुण तथा निर्गुण के ऐक्य पर महत्त्व दिया है। सगुण के सौंदर्य में ही निर्गुण को प्राप्त करने की बात कही गयी है। अर्थात सगुण एवं निर्गुण में विरोध नहीं, समन्वय पर ही विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है।

गोस्वामी तुलसीदास ने निर्गुण तथा सगुण दोनों को ब्रह्मस्वरूप माना है :

''अगुन सगुन दुई ब्रह्म स्वरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा।''[7]

सूरदास ने निर्गुण को 'ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावे' कहा है तो कबीरदास ने :

''अविगत अकल अनुपम देख्या, कहंता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसे, गूंगे जानि मिठाई॥''[8]

महाप्रभु चैतन्यदेव के उड़ीसा आगमन के पूर्व अच्युतानंद की रासलीला रचना, जगन्नाथ दास का कीर्तन रस में डूबना, राय रामानंद द्वारा शुद्धाभक्ति एवं प्रेमाभक्तिपरक पदों की रचना करना, राधाकृष्ण की पूजा आदि पद्धतियां प्रचलित थीं। चैतन्यदेव के साथ पंचसखा की मित्रता ने योग, ज्ञान और भक्ति की बहुआयामी व्यवस्था को स्पर्श किया है। मूर्त में अमूर्त और अमूर्त में मूर्त, नाम और रूप की विचित्रता और रहस्यात्मकता का चित्रण किया गया है। साध्य एवं साधन तथा अन्वय व्यतिरेक नियमानुसार साकार और निराकार का भेद बाह्य दृष्टांत के लिए परिकल्पित है। नाम और रूप में कोई अंतर नहीं है। अच्युतानंद के अनुसार :

''प्रकृति नाम मेरा नहीं, अरूप ब्रह्म कहलाता हूँ मैं।
अरूप से रूपवान हो, नाम स्वरूप में खेलता हूँ मैं॥''[9]

बलराम दास ने उस परमसत्ता के बारे में लिखा है : ''वह नाम और रूपरहित हो कर केवल ब्रह्म है। जागतिक लीला में उसकी विभूतियां महान शक्ति के रूप में परिलक्षित होती है।'' इस प्रकार के भाव यशोवंतदास, अनंतदास की रचनाओं में भी उपलब्ध हैं।

सभी भक्तिकालीन कवियों का पहला परिचय है कि वे सबसे पहले भक्त थे और बाद में कवि। भक्त की पहली पहचान है कि उसका स्वर मानवता का हो। सद्गुणों एवं सदाचरणों से युक्त हो। सत्य, अहिंसा, प्रेम, मैत्री, सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों से वह परिपूर्ण हो। मानव समाज की शांति हेतु वह कर्म करे और वही उसका धर्म हो। दूसरों को भी वह इस कर्म की ओर प्रवृत्त करने वाले व्यक्ति भक्त कहलाने योग्य है। संपूर्ण भारत में भक्तों की यह पहचान है। इस दृष्टि से विचार करने पर हिंदी एवं उड़िया भक्तकवियों ने हमेशा मानवीय गुणों एवं सदाचरणों का पालन किया है। इन्होंने दुख, दैन्य आदि से लोगों को मुक्ति प्रदान करने की प्रेरणा दी है। मानवतावादी विचारधारा के चलते भक्तिकालीन कवियों की वाणी पीयूष स्रोत के समान प्रवाहित हुई है। असत् से सत्, अज्ञान से ज्ञान, स्वार्थ से परमार्थ, बंधन से मुक्ति की ओर मानव समाज को प्रेरित करने और उन्हें सन्मार्ग की ओर ले चलने के प्रयास करने के कारण हिंदी तथा उड़िया भक्तिकालीन रचनाओं का विशेष महत्त्व है।

मध्य काल में हुए भक्ति आंदोलन में जाति, धर्म, वर्ण आदि की पारंपरिक जड़ताओं को अस्वीकार किया गया। यह अस्वीकृति केवल विचार के स्तर पर ही नहीं व्यवहार के धरातल पर भी प्रबल रही। इस आंदोलन ने भेदभाव का विरोध कर जनमानस को प्रभावित किया क्योंकि इसमें सभी धर्मों के लोग शामिल थे। स्त्रियां भी सम्मिलित थीं। हिंदी में वैष्णव भक्तकवियों में रहीम, रसखान के साथ मीरा आदि का नाम लिया जा सकता है तो उड़िया में भक्तकवि सालवेग के साथ साथ माधवी दासी का भी नाम आता है। भक्ति आंदोलन ने सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक, वैचारिक एवं नैतिक आदि समस्त परंपरागत रूढ़ियों का खुला विरोध किया।[10] काव्यभाषा, काव्यविषय और काव्यशैली आदि सभी कसौटियों की दृष्टि से वास्तविक हिंदी साहित्य का प्रारंभ इसी काव्यसाहित्य से हुआ है।[11]

मनुष्य मनुष्य बना रहे—यह भक्तकवियों की प्रमुख चिंता थी। मनुष्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा मानव मूल्यों का क्षरण था। सामान्य जन को भटकाव से मुक्त करना, पराजित मानसिकता से उबार कर उन्हें उत्साहित एवं प्रेरित करना भक्तकवियों का लक्ष्य था। मनुष्य को उसकी हीनताओं, क्षुद्रताओं और निम्न प्रवृत्तियों से ऊपर उठा कर वृहत्तर मानवता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना इन कवियों का ध्येय रहा। इस महती कार्य के लिए उन्होंने रूढ़िवादिता, मिथ्याडंबर, झूठे प्रदर्शन, कामना-वासना, आदि बाधक तत्त्वों को ठुकरा कर साधुता को जीवन का मूलमंत्र बनाने का प्रयास

किया। भावात्मक एकता का प्रयास किया गया। प्रेम और मानवतावादी प्रभाव को रेखांकित करने का प्रयत्न हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूफी कवि जायसी के 'पद्मावत' की समीक्षा करते हुए कहा है : ''अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखायी पड़ता है। इन्होंने मुसलमान हो कर हिंदुओं की कहानियां हिंदुओं की बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखाया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास उन्होंने नहीं दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।'' स्पष्ट है कि हिंदी की सूफी काव्यधारा जनता के अति निकट की है। ईश्वर प्रेम का चित्रण तो उसमें है ही, मानवतावादी विचारों से भी वह परिपूर्ण है। इस संदर्भ में कबीर की वाणियां भी खरी उतरती हैं। उनका साहित्य अनुभवोत्पन्न है। बड़ी कठिनाई से हासिल हुए अनुभवों के पश्चात कबीर ने जो देखा और दिखाना चाहा, वह युगसत्य था। सुख की नींद में डूबा हुआ समाज युगसत्य से अनभिज्ञ था। मानवता का उज्ज्वल भविष्यद्रष्टा जाग रहा था। बाहर से कबीर अक्खड़ तथा फक्कड़ भले ही लगें परंतु भीतर से अत्यंत दुःखी एवं संतप्त हो उठते हैं :

''सुखिया सब संसार है। खावे अरू सोवे।
दुखिया दास कबीर है। जागे अरू रोवे॥''

कबीर तथा जायसी ने हिंदू-मुस्लिम एकता की कामना की थी चाहे परोक्ष रूप से क्यों न हो? प्रेम और समानता के अधार पर ये संत एक ऐसी दुनिया का सपना रच रहे थे जो ऊंच-नीच, भेदभाव और बाह्याडंबर से सर्वथा मुक्त हो। इसलिए उनकी रचनाएं मानवता प्रेम का उत्स हैं। ये रचनाएं उन तमाम चीजों का विरोध करती हैं जो मनुष्य मनुष्य के बीच खाई उत्पन्न करे।

पंचसखाओं ने भी आडंबर, संकीर्णता, सांप्रदायिकता का विरोध किया है। उन्होंने ढोंगी, पाखंडी, धूर्त्त आदि से आम जनता को सचेतनशील बनाया। संतकवि बलराम दास ने कहा है : ''पाषाण प्रतिमा, तीर्थ, व्रत, शिव, दुर्गा आदि में लोग निमज्जित होते हैं, किंतु ईश्वर के पारमार्थिक रूप को नहीं समझते हैं।''[12] इसी प्रकार अच्युतानंद ने भी तीर्थ, व्रत, जप, तप आदि को निस्सार बताया है, भूत-प्रेत आदि की पूजा को ढोंग बताया है। वेदशास्त्र आदि को संसार के हित, जनकल्याण का साधन स्वरूप माना। हिंसा से दूर रहने का आग्रह किया।[13] मानव जीवन को दुर्लभ बता कर जहां तक संभव हो मानवता को आधार बनाने हेतु उत्साहित किया गया है। मानव जन्म बार बार नहीं

मिलता है। इसलिए इसका सदुपयोग होना आवश्यक है। जिस प्रकार वृक्ष से गिरे फल पुनः वृक्ष की डाल में नहीं लगते, उसी प्रकार मानव जीवन बार बार नहीं मिलता है। इसलिए यथासंभव उसका सदुपयोग होना चाहिए। कबीर के ऐसे भावों की तुलना उड़िया कवि भक्तचरण दास की रचना से की जा सकती है :

''झड़ जाने से एक बार फिर सँभलता नहीं
झड़ते पत्ते वृक्ष की डाल पर लगते नहीं।''[14]

हिंदी तथा उड़िया भक्तकवियों ने जाति के नाम पर समाज में व्याप्त भेदभाव को अस्वीकृत किया है। मनुष्य तो मनुष्य होता है। फिर जाति के आधार पर उनमें अंतर कैसा? स्वार्थांध तथा पाखंडी जाति एवं धर्म के नाम पर वैमनस्य बढ़ाते हैं। कबीरदास ने इसकी निंदा करते हुए कहा है कि एक ही मातृगर्भ से उत्पन्न संतानों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, हिंदू, मुसलमान भेद क्यों?

''नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा, जा का पियण्ड ताही का सींचा।
जे तू बांमन बामनीं जाया, तो आनबाढ़, ह्वै काहे न आया॥
जे तू तुरक तुरकनीं जाया, तो भीतरि खतानां क्यूं न कराया॥''[15]

कबीर ''घट घट में जीव है, दुनियां जानैं नाहिं'' कहते हैं तो जगन्नाथ दास 'भागवत' में व्यक्त करते हैं :

''घट घट में हैं नारायण।
विराजते हैं अनादि कारण॥''[16]

उत्तर भारत में मध्य काल में हिंदू-मुसलमानों में पारस्परिक वैमनस्य था। सांप्रदायिकता एवं धार्मिक असहिष्णुता विद्यमान थी। हिंदी के भक्तकवियों ने हिंदू-मुसलमान संघर्ष को मानवता के आधार पर समाप्त करना चाहा। दोनों धर्मों में एकता स्थापित करने का प्रयास भी किया गया। परंतु मध्य कालीन उड़ीसा में हिंदू-मुसलमान संघर्ष नहीं था। फलस्वरूप उड़िया भक्तिकालीन काव्य परंपरा में इसकी चर्चा का अभाव है।

तुलसी की भांति जगन्नाथ दास ने भी चतुर्वर्ण व्यवस्था का उल्लेख किया है। परंतु इन जातियों में ऊंच-नीच की भावना को बढ़ावा देने का उद्देश्य कभी नहीं था। 'रामचरितमानस' तथा 'भागवत' मे समानता, मैत्री, करुणा, प्रेम, सत्य, न्याय, दया, क्षमा आदि गुणों को महिमामंडित किया गया है। अर्थात इन गुणों को जनकल्याण हेतु आवश्यक समझा गया है। दोनों महाकवियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। मानवतावाद के स्वर को मध्यकालीन साहित्य में प्रमुखता के साथ उभारा गया है। 'मानस' का परस्पर विरोधी स्वर उसका वैशिष्ट्य है तो

'भागवत' की एकरूपता उसकी शक्ति है। दुष्ट नारियों के लिए तुलसीदास 'ताड़न के अधिकारी' कहते हैं तो भागवतकार दुष्ट नारियों के चित्रण से दूरी बरतते हुए नजर आते हैं। वे नारी मात्र को आद्याशक्ति के रूप में चित्रित करते हैं। सबसे बड़ी समानता है मानवता को संतजीवन का ध्येय रहा है।

आज के युग की सबसे बड़ी विडंबना कथनी और करनी में पीरघाट और मीरघाट की दूरी है। चारित्रिक दोहरापन समाज में अनेकत्र विद्यमान है। मध्य कालीन भक्तिकवियों ने कथनी और करनी अथवा आदर्श एवं यथार्थ में निहित दूरी को समाप्त करना चाहा। उन्होंने इनमें सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। सामाजिक कर्तव्यों की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न भी किया। सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि इन कवियों ने नीतिशास्त्र से अधिक नैतिक आचरणों की शुद्धता पर जोर दिया। मनसा-वाचा-कर्मणा सरलता एवं सहजता को भक्ति का आावश्यक अंग मानते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है :

''सूधे सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूति।
'तुलसी' सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति॥''[17]

एतद्पूर्व कबीरदास ने शास्त्रज्ञान की निस्सारता को प्रतिपादित करते प्रेम की महानता पर प्रकाश डालते हुए कहा था :

''पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ॥
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होइ॥''[18]

अर्थात वेद, शास्त्र, कुरान, जप, माला, मंदिर, मस्जिद आदि कुछ भी नहीं; प्रेम ही सब कुछ है। यह प्रेम मानव प्रेम है जो विविधता में एकता का मूलमंत्र अभिसिंचित करता है। अच्युतानंद दास ने भी पंडिताऊपन के अहंकार को त्याग कर सरलता और प्रेममार्ग के अवलंबन हेतु आग्रह किया है :

''पंडित को मिले कहाँ इसका तदन्त, काव्यशास्त्र पढ़कर गर्व पोषित करे चित्त में।
सहज मन हो तो भक्तिमार्ग दिखे, भक्ति रहे चित्त में श्री कृष्ण के चरणों में॥''[19]

'रामचरितमानस' और 'भागवत' दोनों लोकप्रिय ग्रंथ हैं। 'रामचरितमानस' का क्षेत्र संपूर्ण हिंदी क्षेत्र है तो 'भागवत' की व्याप्ति पूरे उत्कल में है। मानस और भागवत की पंक्तियां अमरवाणी के रूप में प्रयुक्त होती हैं। लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हैं, सूक्ति के रूप में तो हैं ही। विस्तार-भय की आशंका से केवल दो पद उद्धृत हैं :

(क) भागवत : *कर्म करणे फल पाई। प्राणी को अवश्य भंजुइ।* (11 : 11)
मानस : *कर्म प्रधान विश्व करि राखा।*
जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥ (बालकांड)

(ख) भागवत : *उत्तम के साथ सिंग जिसका। उत्तम आचरण होता है उसका।*
हीन के साथ होती हीन गति। हँसकर बोले मदुपति। (11:17:14)
मानस : *सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुघातु सुहाई॥* (बालकांड)

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मानव-मिलन, जीवन के प्रति आस्था, स्वस्थ समाज की आकांक्षा, अन्याय का विरोध, असत् का त्याग, दृढ़संकल्प, प्रचंड आशावादिता हिंदी तथा उड़िया कवियों का जीवनादर्श था। इन भक्तकवियों को यह अनुभव था कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मनुष्य की हैसियत से तभी मिल सकता है जब जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, संप्रदायगत आदि। बहुतेरी वैशिष्ट्य के जाल को छिन्न किया जाय।[20] मानव समाज में सत्यं शिवं सुंदरम् की अभिव्यक्ति संतों के जीवन का आदर्श था। इन भक्तकवियों का ध्येय था :

''असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योमांमृत गमय।''

इसलिए भक्ति काव्य भक्त एवं भगवानकेंद्रित ही नहीं बल्कि यह समाजकेंद्रित भी है। यह लोकोन्मुखी काव्य है। लोकभाषा को साहित्यिक भाषा का दर्जा देना इस काल की कविताओं का सबसे बड़ा वरदान सिद्ध हुआ है।

संदर्भ

1. भागवत, जगनाथदास, 10/3/40
2. भागवत, जगनाथदास, 10/4/49
3. शून्य संहिता, अध्याय 1, पृ. 1
4. जगन्नाथ चरितामृत, अध्याय 18
5. शून्य संहिता, अध्याय 1, पृ. 5
6. श्री गुरुग्रंथ साहिब, आसामहला 1, पृ. 356
7. रामचरितमानस, बालकांड, द्वितीय, 22 : 1
8. कबीर ग्रंथावली, पद 6
9. छयालीस पटल, पृ. 409
10. रवींद कुमार सिंह, संत काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, पृ. 47
11. यथोपरि
12. बलरामदास, गुप्त गीता
13. संत साहित्य, पृ. 443
14. भक्वतचरणदास, मनबोध चउतिशा, पृ. 28

LIBRARY
P. M. S. MAHAVIDYALAYA
Call No.....
ACC No. 7226 Date 16-9-08

15. कबीर ग्रंथावली, पद 41
16. भागवत, 11 : 3
17. दोहावली, पद 152
18. कबीर ग्रंथावली
19. शून्य संहिता, अध्याय 6, पृ. 53–54
20. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 147

3

हिंदी एवं उड़िया के ऐतिहासिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास नहीं है। इतिहास की चिरंतन जीवनधारा की खोज ऐतिहासिक उपन्यास का मूल विषय है। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास मुख्य नहीं होता है। गौण होता है। इसलिए ऐतिहासिक उपादान को आधार बना कर उसमें कल्पना की सहायता से जो उपन्यास लिखा जाता है उसे ऐतिहासिक उपन्यास कहा जाता है। किसी ने उचित ही कहा है कि इतिहास में नाम एवं तिथि के अलावा अन्य सभी असत्य हैं जबकि उपन्यास में नाम एवं तिथि के अलावा सब कुछ सत्य होता है। इतिहास और उपन्यास के मधुर समन्वय से 'ऐतिहासिक उपन्यास' का जन्म होता है। इतिहास के कंकाल पर ऐतिहासिक उपन्यासकार कल्पना का रक्त-मांस प्रदान करता है और उपन्यास में सरल जीवन्यास का आरोपण करता है। ऐतिहासिक उपन्यास यथार्थ इतिहास नहीं है, उपन्यास भी नहीं है। इतिहास और उपन्यास का सम्मिश्रण है।

ऐतिहासिक उपन्यास अतीत एवं वर्तमान का मिलन बिंदु है। इतिहास अतीत की पृष्ठाएं उन्मोचित करता है और यह उपन्यासकार को सहायता प्रदान करता है। चाहे उपन्यास सामाजिक हो या राजनीतिक, उसमें इतिहास की पृष्ठभूमि का प्रयोजन अवश्य होता है। इस कार्य में कल्पना सहायिका बन कर आती है।

ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र अथवा चरित्र-चित्रण एवं घटनाएं ऐतिहासिक हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं परंतु परिस्थितियों और वातावरण का ऐतिहासिक होना अत्यंत आवश्यक है। यदि ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर उपन्यास की रचना न हो तो उसे ऐतिहासिक उपन्यास नहीं बल्कि रोमांस कहा जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिक तथ्यों की आवश्यकता होती है। परंतु उन तथ्यों की रोचक प्रस्तुति के लिए कल्पना भी आवश्यक है। इतिहास में कल्पना अनायास आ भी सकती है परंतु ऐतिहासिक उपन्यास में कल्पना नियंत्रित रहती है। पुनर्रचना की दृष्टि से भी ऐतिहासिक उपन्यास की भूमिका इतिहास से कहीं अधिक प्रतीत होती है। अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान की समस्याओं को रूपायित करना

ऐतिहासिक उपन्यास का मूल लक्ष्य है। क्योंकि अतीत केवल अतीत या मृत नहीं होता है। वह वर्तमान को प्रभावित करता है।

कोई भी ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने जन्म के पहले की घटित घटनाओं का अध्ययन तथा चिंतन-मनन करता है और उसे उपन्यास का रूप प्रदान करता है। चित्रित ऐतिहासिक पात्र इतिहास के यथार्थ पात्र हों अथवा काल्पनिक, इससे कोई अंतर नहीं होता। क्योंकि वह उन्हीं पात्रों को अपनी रचना में चित्रित करना चाहता है जो कभी जीवित थे, जीना चाहते थे पर अब वे रहे नहीं। इस संदर्भ में ऐतिहासिक उपन्यासकार को अतीत के प्रति अत्यधिक मोह के साथ साथ वर्तमान के प्रति सजगता का होना भी आवश्यक होता है। इससे भविष्य को सुखद बनाने का प्रयास होता है तथा नयी प्रेरणा प्राप्त होती है। अर्थात अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के सेतु के रूप में ऐतिहासिक उपन्यास की विशिष्ट पहचान होती है। हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकार वृंदावनलाल वर्मा के शब्दों में : ''मैं गौरवगाथाओं से वर्तमान को भुला नहीं पाता हूं और पाठकों को पलायनवादी नहीं बनाता। मैं उन्हें उत्साहित करते हुए भविष्य के लिए शक्तिशाली बनाता हूं। इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास में अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को कहीं कहीं नियंत्रित करने की आवश्यकता महसूस करते हुए अपने क्षेत्र की व्यापकता हेतु प्रयास करता हूं।'' ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिह्य-यथार्थता की प्रस्तुति ही उसका महत्त्व प्रतिपादित करता है।[1] ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने पाठकों को शताब्दियों से पहले की स्थितियों में ले पहुंचाता है। तभी पाठकों के मन में न तो कोई पूर्वाग्रह रहता है और न ही कोई दुराग्रह। इसलिए उनके अचेत मन में प्रवेश करके उपन्यासकार जैसा चाहे, जिस रूप में चाहे उनसे करवा लेता है। पाठक जब उपन्यास समाप्त करते हैं और अतीत से वर्तमान में लौट आते हैं तब उनमें नयी स्फूर्ति एवं प्रेरणा उत्पन्न होती है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में तथ्यों, साक्ष्यों, ग्रंथों के साथ साथ लोककथा, लोकगीत, ऐतिहासिक स्थलों, भौगोलिक ज्ञान आदि की प्रयोजनीयता है। इसके साथ ऐतिहासिक उपन्यासकार को 'ऐतिहासिक भूल' से बचना जरूरी है। आधुनिक मतवाद को प्राचीन कहानी में सम्मिलित करने से ऐतिहासिक कृति हास्यात्मक हो जायेगी। उसकी अर्थवत्ता समाप्त हो जायेगी।

ऐतिहासिक उपन्यास के स्वरूप की चर्चा के पश्चात हिंदी तथा उड़िया ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना समीचीन जान पड़ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार सन् 1877 में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक उपन्यास लिखा था।[2] यह एक सामाजिक उपन्यास था। अर्थात सामाजिक उपन्यास से हिंदी उपन्यास की यात्रा शुरू होती है। उड़िया साहित्य का प्रारंभिक उपन्यास 'सौदामिनी' सन् 1878 में रामशंकर राय द्वारा लिखा गया था। यद्यपि यह एक असंपूर्ण उपन्यास है,

फिर भी, उड़िया साहित्य में उपन्यास रचना के क्षेत्र में यह प्रयास प्रशंसनीय था। रामशंकर राय का दूसरा उपन्यास 'विवासिनी' सन् 1891 में प्रकाशित हुआ जिसे उड़िया का प्रथम उपन्यास कहा जाता है। परंतु इसके तीन साल पहले 1888 में उमेशचंद्र सरकार का 'पद्ममाली' शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यास का प्रकाशन हुआ था।[3] हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास की धारा किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रवाहित की। उन्होंने सन् 1902 में 'तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी' उपन्यास लिखा। उड़िया उपन्यास का प्रारंभ ऐतिहासिक उपन्यास से तो हिंदी का प्रारंभ सामाजिक उपन्यास से होता है। हिंदी तथा उड़िया के प्रारंभिक उपन्यासकार 'बंगभाषा' से बहुत अधिक प्रभावित थे। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में बंगला में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय का अन्यतम स्थान है। उनके उपन्यासों—'दुर्गेशनंदिनी' (1865), 'मृणालिनी' (1869) एवं 'युगलांगुरीय' (1874) को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। किशोरीलाल गोस्वामी पर बंकिमबाबू का स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है। भारतेंदुकालीन हिंदी उपन्यास के स्वरूप पर आलोकपात करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा भी है : ''नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखादेखी नये ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अत: साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।''[14] हिंदी में बंगला से अनुवाद के माध्यम से तो उड़िया में भाषा-सामीप्य के चलते बंगला उपन्यासों का प्रभाव हिंदी तथा उड़िया में समान रूप से पाया जाता है। परंतु हिंदी तथा उड़िया के प्रारंभिक उपन्यासकारों की मौलिकता पर कोई प्रश्नचिह्न खड़ा नहीं किया जा सकता। इन रचनाकारों ने चरित्र-चित्रण, कालानुसार भाषा, वातावरण एवं जातीयताबोध के संदर्भ में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

प्रेमचंद-पूर्व-युग में उपन्यास का लक्ष्य मनोरंजन था। ऐयारी तिलस्मी, जासूसी एवं रहस्यमयी कथावस्तु के आधार पर उपन्यास लिखे गये थे। इस युग में धार्मिक तथा गार्हस्थ्य विषय आधारित सामाजिक जागरण के उद्देश्य हेतु सामाजिक उपन्यास भी प्रकाशित हुए। परंतु औपन्यासिक शैली में इतिहास के सत्यान्वेषण की दृष्टि से बहुत कम उपन्यास प्रकाशित हुए जिन्हें ऐतिहासिक उपन्यास की कोटि में रखा जा सके। सुधार की प्रवृत्ति, मनोरंजन, प्राचीन परंपरा का पोषण आदि तत्त्वों को अपना कर हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों की रचना हुई। प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में श्री किशोरीलाल गोस्वामी, श्री गंगाप्रसाद गुप्त, बाबू ब्रजनंदन सहाय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री गोस्वामी के 'तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी' (1902), 'कनक कुसुम वा मस्तानी' (1903), 'सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), 'मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी' (1905), 'लवंगलता वा आदर्श बाला' (1904),

'लखनऊ की कब्र या शाहीमहलसरा' (1917) उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास के अंतर्गत आते हैं। इतिहास के पृष्ठों से सामग्री संकलित करते हुए गोस्वामी जी ने सुल्तान रजिया (1236-40) के शासन काल से ले कर बंगाल के अंतिम नवाब मीर कासिम (1760-65) तक अपनी रचना का आधार बनाया है। नवाबी कालीन मुस्लिम संस्कृति हो अथवा जोधपुर के राजघराने की संस्कृति का चित्रण—किशोरीलाल गोस्वामी को महारथ हासिल है। पेशवा बाजीराव के प्रणय प्रसंग को भी उपन्यासकार ने रोमांसपूर्ण कहानी के माध्यम से चित्रित किया है। इतिहास के तथ्यों को कल्पना के रंग में रंग कर मनोवांछित वातावरण प्रस्तुत करने में उपन्यास को सफलता मिली है। गोस्वामी के उपन्यासों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि के प्रभाव भी यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं। इनके उपन्यासों में से 'तारा वा क्षात्रकुल कमलिनी' को बड़ी प्रसिद्धि मिली। आलोच्य उपन्यास में जोधराज के महाराज राजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमर सिंह की पुत्री तारा का विवाह उदयपुर के युवराज राजसिंह के साथ होना था। परंतु शाहजहां का खजांची सलाबत खां रास्ते का कांटा बन कर आता है। सलाबत की हत्या की जाती है और तारा के साथ राजसिंह का विवाह संपन्न होता है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में एक ओर प्रणय कहानी है तो दूसरी ओर रचनाकालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी वर्णन किया गया है।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के समकालीन ऐतिहासिक उपन्यासकारों गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, मथुराप्रसाद शर्मा, बाबू ब्रजनंदन सहाय आदि ने कई ऐतिहासिक परंपरा के उपन्यास लिखे। इस कालावधि में रचित अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों के स्थान पर कल्पना का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें इतिहास के तथ्यों का अधिक प्रयोग हुआ है। जैसे, मथुराप्रसाद का 'नूरजहांबेगम व जहांगीर' (1905)।

हिंदी के प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पनाशीलता, भावुकता, प्रेम कहानियों आदि का प्राधान्य था। इस संदर्भ में डॉ. रामचंद्र तिवारी का विचार है : "प्रेमचंद-पूर्व-युग के ऐतिहासिक उपन्यासों के संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि ये सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं। लेखकों की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हट कर प्रणय कथाओं, विलास लीलाओं, रहस्यमय प्रसंगों तथा कुतूहलवर्धक घटनाचक्रों की कल्पना में लीन हो जाती है। वे कल्पना से अधिक कार्य लेते हैं। ऐतिहासिक छान-बीन कम करते हैं। अतीत, उनकी मुक्त कल्पना की उड़ान के लिए सुविधा प्रस्तुत करता है और वे इतिहास की चिंता छोड़ कर पाठकों के चित्त का रंजन करने वाली कथाधारा में बह जाते हैं। इसीलिए इस युग में उत्तम कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम लिखे गये।"[5] ऐतिहासिक उपन्यास की कसौटी पर प्रेमचंद-पूर्व-

युग में लिखे गये उपन्यास सफल न होने पर भी उनके ऐतिहासिक महत्त्व को ठुकराया नहीं जा सकता है।

उड़िया के प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासों को भी फकीरमोहन-पूर्व-युगीन उपन्यासों के अंतर्गत रखा जा सकता है। स्पष्ट किया जा चुका है कि अधूरा होने पर भी 'सौदामिनी' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। अलाउद्दीन के चित्तौड़, राजगढ़, उज्जयिनी आक्रमणों से उत्पन्न स्थितियों को उक्त उपन्यास में वर्णित किया गया है। इसमें सुल्तान अलाउद्दीन, उज्जयिनी के राजपूत राणा और उनकी पत्नी पद्मावती, पुत्र जयसिंह आदि ऐतिहासिक पात्रों के साथ आनंदमयी, चंद्रविलास आदि काल्पनिक पात्र भी समवेशित हैं। असंपूर्ण होने पर भी रामशंकर राय ने उक्त उपन्यास में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय किया है।

'सौदामिनी' उनतीस परिच्छेदों से युक्त होने पर भी असंपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास था। 'पद्ममाली' (1888) उड़ीसा के नीलगिरी अंचल के कर्मचारियों के द्वारा पाचंगढ़ आक्रमण तथा हरिहर भ्रमरवर बाबू के द्वारा नीलगिरि आक्रमण के चित्र प्रस्तुत करता है। ये दोनों घटनाएं ऐतिहासिक थीं। इनके साथ अन्य घटनाओं को भी काल्पनिक रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यासकार उमेशचंद्र सरकार ने तत्कालीन शासन व्यवस्था में प्रजा पर हो रहे अत्याचारों का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। उड़ीसा के विभिन्न अंचलों में देशी राजाओं में हो रहे संघर्षों और अत्याचारों के वर्णन के बहाने प्रांतीय इतिहास को उपन्यास का आधार बनाना अपने आप में महत्त्वपूर्ण था। उपन्यासकार ने आलोच्य उपन्यास की भूमिका में कहा है : ''उत्कल प्रांत के इतिहास की पर्यालोचना करने पर भावुक युवक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए उपादानों का अभाव नहीं पायेंगे। हमने केवल इस छोटे एवं अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध राज्य की घटना का सहारा ले कर इस ग्रंथ की रचना की है। इसमें पूर्ण सफलता न मिलने पर भी हमसे अधिक प्रतिभाशाली युवक हमारे प्रदर्शित मार्ग का अवलंबन कर सफल होंगे और उससे उत्कल भाषा को गौरवान्वित कर हमारी असफलता की समुचित क्षतिपूर्ति करेंगे।''[6]

रामशंकर राय का ऐतिहासिक उपन्यास 'विवासिनी' (1891) में मराठाकालीन उत्कल की दुर्व्यवस्था, प्रजा पर हो रहे अत्याचार एवं दयनीय सामाजिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है। मराठा सूबेदार शंभुजी गणेश के अत्याचार और दमन को उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। अकाल पीड़ित लोगों की दयनीय स्थिति, राजकर्मचारियों का अत्याचार एवं शोषण आदि से 'विवासिनी' की कथावस्तु पुष्ट हुई है। इस उपन्यास में जहां शंभुजी गणेश को प्रजापीड़क के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं डाकुओं का सरगना रघुनाथ पट्टनायक को अत्यंत साहसी, आदर्शवादी, तथा परोपकारी पात्र के रूप में चित्रित किया गया है। नारी पात्रों में कलावती एवं रसकला काल्पनिक हैं। इन्हें

भी उपन्यासकार ने पूरी संवेदना के साथ चित्रित किया है। प्राचीन कुसंस्कार और नयी कुप्रवृत्तियों के प्रति उपन्यासकार ने समान रूप से घृणा भाव पोषित किया है। पुरातन एवं नवीन के संघर्ष को भी उपस्थापित किया गया है। साथ ही, उक्त उपन्यास में रामशंकर के जातीयताबोध का परिचय भी प्राप्त होता है। प्राचीन गौरव एवं उज्ज्वल अतीत को स्मरण करते हुए भविष्य के प्रति नयी स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य में भी रामशंकर को सफलता मिली है।

उड़ीसा के प्रेमचंद के रूप में विख्यात फकीरमोहन सेनापति द्वारा लिखित 'लछमा' (1901) एक ऐतिहासिक उपन्यास है। यह पतनोन्मुखी उड़िया जाति की उज्ज्वल गाथा के साथ मराठों द्वारा उड़ीसा पर आक्रमणों एवं अत्याचारों की मार्मिक कथा प्रस्तुत करता है। सन् 1740 में अलीवर्दी खां बंगाल का नवाब बना और दूसरे साल उड़ीसा को अपने अधिकार में ले लिया। मराठा-मुसलमान संघर्ष, उड़ीसा के सामंती वर्ग का पतन एवं मराठा अत्याचार की विषयवस्तु पर आधारित 'लछमा' उपन्यास में लछमा-बादलसिंह का उपाख्यान भी है। इस रचना में कल्पना केवल सहायक बन कर आयी है। बादल और लछमा काल्पनिक पात्र हैं परंतु मराठों का उड़ीसा पर आक्रमण, दमन आदि के ऐतिहासिक साक्ष्य हैं।[7] अठारहवीं शताब्दी के चौथे-पांचवें दशक के उड़ीसा की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण 'लछमा' का उद्देश्य है।

उड़िया ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा को विकसित करने में उमेशचंद्र सरकार के 'केउंझर विद्रोह' (1907) का नाम उल्लेखनीय है। केउंझर के प्रजा आंदोलन (1868) के आधार पर लिखित इस उपन्यास में 1866 के महाकाल का भी मार्मिक चित्रण प्राप्त है। इस उपन्यास में भी उमेशचंद्र सरकार का देशप्रेम एवं जातीय ऐतिह्य के प्रति सम्मानबोध का परिचय प्राप्त होता है।[8]

हिंदी तथा उड़िया के प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का आधार लिया गया है परंतु कल्पना की प्रचुरता पायी जाती है। दोनों भाषाओं के उपन्यासों में प्रणय लीलाओं का भी खूब चित्रण हुआ है। हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों का उद्देश्य मनोरंजन रहा। उड़िया के उपन्यासों का क्षेत्र सीमित रहा। मुगलकालीन, पेशवाकालीन इतिहास को आधार कुछ उपन्यासों में अवश्य बनाया गया है। परंतु अधिकांश उपन्यासों में उत्कल, उत्कलीयता, जातीयता आदि प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। परंतु यहां प्रांतीयता का कोई स्थान नहीं है। प्रांतीयता तथा सांप्रदायिकता को नकारा गया है। उत्कलीयता तो राष्ट्रीयता का सोपान बन कर आती है। दोनों भाषाओं के उपन्यासों में जातीय गौरव के महत्त्व को भी प्रतिस्थापित करने का प्रयास मिलता है। सही अर्थ में आलोच्य काल के उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यास का दर्जा न

दिये जाने पर भी ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा को समृद्ध करने के लिए अलग महत्त्व स्वीकृत है। उड़िया ऐतिहासिक उपन्यासों का विषय सीमित था तो हिंदी ऐतिहासिक उपन्यासों का क्षेत्र व्यापक था।

हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यास लेखन के दूसरे चरण में श्री वृंदावनलाल वर्मा का नाम अत्यंत उल्लेखनीय है। उन्होंने 'संगम' (1927), 'प्रत्यागत' (1927), 'लगन' (1928), कुंडलीचक्र (1932) जैसे उपन्यास समकालीन समस्याओं को आधार बना कर लिखे। वृंदावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुंडार' (1930) तथा 'विराटा की पद्मिनी' (1936) नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। वर्मा जी के आगमन से सही अर्थ में हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये। आपके उपन्यासों में 'झांसी की रानी' (1946), 'कचनार' (1948), 'मृगनयनी' (1950), 'अहिल्याबाई' (1955), 'महारानी दुर्गावती' (1964), 'देवगढ़ की मुस्कान' (1973), प्रसिद्ध हैं। चौदहवीं शताब्दी के बुंदेलखंड की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक परंपराओं का चित्रण 'गढ़कुंडार' में है तो 'झांसी की रानी' में झांसी की रानी की बाल्यावस्था से अंतिम समय तक का चित्रण है। 'विराटा की पद्मिनी' शीर्षक उपन्यास में प्रणय एवं संघर्ष के मर्मस्पर्शी चित्र उकेरे गये हैं। बुंदेलखंड की 'गोंड' एवं 'गोसाईं' जातियों का ऐतिहासिक चित्रण 'कचनारे' में प्रस्तुत है। बुंदेलखंड की लोककथा, किंवदंतियों, इतिहास एवं लोकजीवन का गहन अध्ययन तथा चिंतन-मनन करने के पश्चात उपन्यासकार ने अपनी कृतियों में मनोज्ञ चित्र प्रदान किया है। उन्होंने ब्रिटिशकालीन भारतीय इतिहास को आधार बना कर 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' नामक उपन्यास लिखा। साम्राज्यवाद को बुंदेलखंड की जनता ने किस प्रकार चुनौती दी थी उसे रचनाकार ने उक्त उपन्यास में प्रस्तुत करके उनकी वीरता तथा बलिदान की भावना को रूपायित किया है। रानी लक्ष्मीबाई, गुलाम गौस खां, गंगाधर राव आदि पात्र ऐतिहासिक हैं। बुंदेलखंड की प्रकृति, लोकजीवन और लोकसंस्कृति के सफल रूपायन करने में वर्मा जी की कोई तुलना नहीं है। वृंदावनलाल वर्मा ने लगभग अर्द्धशताब्दी तक ऐतिहासिक उपन्यासों के सृजन से हिंदी कथा साहित्य को संपन्न तथा समृद्ध किया है।

वृंदावनलाल वर्मा के समकालीन चतुरसेन शास्त्री ने तीन प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास : 'वैशाली की नगरवधू' (1949), 'सोमनाथ' (1954), 'वयं रक्षामः' (1955) लिखे। आपके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है कि आपने इतिहास से अधिक इतिहासरस प्रस्तुत किया है। इतिहास की अवहेलना भी की है। इतिहास और कल्पना का मधुर समन्वय आपके उपन्यासों का दूसरा वैशिष्ट्य है। आपकी मान्यता भी है : "इतिहासकार इतिहास में संशोधन कर सकता है, पर उपन्यासकार उसे कैसे सुधारे? मैंने देखा है, इतिहास के स्थिर सत्य जैसा कोई असत्य इस दुनिया में नहीं है। × × ×

मैंने स्थिर सत्य और चिर-सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से अलग कर दिया है।"[9]

इस अवधि के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', 'जययौधेय' और 'मधुर स्वप्न' को काफी प्रसिद्धि मिली है। लिच्छवि, यौधेय गणतंत्र तथा मध्य एशिया की कथा को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत करने में राहुल जी को अत्यधिक सफलता मिली है। राहुल जी की तरह इतिहास के आधार पर मार्क्सवादी जीवन दर्शन की व्याख्या करने वाले अन्यतम उपन्यासकारों में यशपाल का नाम प्रसिद्ध है। यशपाल ने 'दिव्या' तथा 'अमिता' जैसे उपन्यासों में अपने मन में निहित सत्य को अतीत की पृष्ठभूमि पर कल्पना द्वारा चित्रित किया है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946), 'चारु चंद्रलेख', (1963) 'पुनर्नवा' (1973) और 'अनामदास का पोथा' चार ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। उपन्यासकार का इतिहासबोध, प्रेमदर्शन, प्रेम संवेदना और समकालीन चेतना उपर्युक्त उपन्यासों में चित्रित हैं। द्विवेदी जी के आधुनिक, उदार, वैज्ञानिक एवं मानवतावादी दृष्टिकोण का भी परिचय प्रस्तुत करता है उनका ऐतिहासिक उपन्यास संसार। इस संदर्भ में गोपाल राय का मानना है : "द्विवेदी जी के उपन्यासों में अंकित प्रेम की संवेदना अपनी गहराई और तीव्रता में उच्च कोटि की तो है ही, साथ ही वह तपस्या और लोक कल्याण की भावना से भी जुड़ी हुई है। द्विवेदी जी प्रेम के उस भारतीय आदर्श के कायल हैं जिसके अनुसार तपस्या और लोक कल्याण की भावना से युक्त प्रेम ही स्थायी और मंगलमय होता है।"[10]

गोविंदवल्लभ पंत के 'अमिताभ', 'नूरजहां', 'कोहीनूर का हरण', ऋषभचरण जैन का 'गदर', रांगेय राघव के 'मुर्दों का टीला', 'अंधेरे के जुगनू', गुरुदत्त के 'बहती रेत', 'उमड़ती घटाएं', 'संभवामि युगे युगे' आदि ऐतिहासिक उपन्यास की धारा को समृद्ध करते हैं।

फकीरमोहन के परवर्ती ऐतिहासिक उपन्यासकारों में दयानिधि मिश्र की लोकप्रियता अधिक रही। उन्होंने 'संयुक्ता' (1921), 'राणाप्रताप सिंह' (1923), आदि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। दयानिधि की रचनाओं में उड़िया जाति की वीरता तथा विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। 'संयुक्ता' में पृथ्वीराज, जयचंद, मोहम्मद गौरी के इतिहास के आधार के साथ कल्पना का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक उपन्यासकार दयानिधि मिश्र, रामचंद्र आचार्य, तारिणीचरण रथ और मुकुंद दास समकालीन थे। इन चतुष्टयी के ऐतिहासिक उपन्यास-सृजन में पदार्पण के साथ इस धारा का स्वर्णकाल अवतरित हुआ। इस काल के उपन्यासकार इतिहास को समर्पित थे। कल्पना तथा इतिहास के मिलन में, नयी शैली के प्रयोग में, रस सृष्टि में अपूर्व पारदर्शिता में उपन्यासकारों ने

इतिहास को रंग तथा रूप प्रदान करते हुए पाठकों के सामने जीवंत इतिहास उपस्थापित कर दिया।[11] काला पाहाड़ द्वारा उड़ीसा का आक्रमण और उड़ीसा के निवासियों का प्रतिरोध 'कालापाहाड़' (1921) में वर्णित है। इसके उपन्यासकार मुकुंद दास ने जातीयताबोध, हिंदू चेतना तथा उत्कलप्रीति को बखूबी चित्रित किया है। फ्रांसीसी उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबल' के आधार पर पंडित गोदावरीश मिश्र ने 'अभागिनी' (1922) नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'अठरशह सतर' (1817) के सैनिक विद्रोह पर आधारित है। स्वतंत्रता सेनानी गोदावरीश मिश्र ने अंग्रेजों के विरुद्ध जनजागृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है।

तारिणीचरण रथ ने 'अन्नपूर्णा' (1922) में विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय का उड़ीसा आक्रमण तथा उड़ीसा के प्रतापरुद्रदेव का उनसे समझौता की घटना को आधार माना है। इसमें उड़ीसा की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, गौरव गाथा, जातीयता का भी खूब प्रचार-प्रसार हेतु आग्रह दिखाया गया है।

हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृंदावनलाल वर्मा का जो स्थान है उड़िया में रामचंद्र आचार्य को वही प्रतिष्ठा प्राप्त है। उन्होंने 'कमल कुमारी' (1925) 'वीर ओड़िआ' (1928), 'पद्मिनी' (1929), 'पीयूष प्रवाह' (1935), 'वीरांगना' (1936) ऐतिहासिक उपन्यास लिख कर उक्त परंपरा को समृद्ध किया है। रामचंद्र आचार्य का ऐतिहासिक उपन्यास सृजन 12 वर्षों तक जारी रहा जबकि वृंदावनलाल वर्मा का सृजन काल आधी शताब्दी तक व्याप्त है। वर्मा जी एवं आचार्य जी के उपन्यासों में राष्ट्र प्रेम, जाति प्रेम, जातीयता, लोक कल्याण तथा त्याग आदि की भावनाएं समान रूप से पायी जाती हैं। आचार्य जी के रचना काल के अंतिम दौर में वृंदावनलाल वर्मा ने अपना लेखन शुरू किया था। इस अंतर के बावजूद रामचंद्र आचार्य उड़िया के तथा वृंदावनलाल वर्मा हिंदी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं। दोनों उपन्यासकारों के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए डॉ. अजय कुमार पटनायक ने लिखा है : ''दोनों उपन्यासकारों ने इतिहास के अतिरिक्त अभिलेख, किंवदंती, लोककथा आदि को अपना कर एवं अपने अपने क्षेत्र में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं को उपन्यासों में ला कर उन्हें एक मानवीय स्तर पर पहुंचा दिया है। दोनों ने ही सांप्रदायिकता के विरुद्ध आवाज उठाने के साथ साथ हिंदू-मुसलमान के बीच सदाशयता लाने की चेष्टा की है।''[12] दोनों के उपन्यासों में क्रूर शासक के अन्याय, अत्याचार के चित्रण हैं तो उसके विरुद्ध संग्राम करने का आग्रह भी प्रस्तुत है। मानवतावादी स्वर दोनों उपन्यासकारों का प्राण तत्त्व है।

इसी प्रकार काहनुचरण महांति और रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों में

समानता पायी जाती है। प्राचीन काल से ही उत्कल नौ-वाणिज्य के क्षेत्र में काफी ख्याति अर्जित की थी। काह्नुचरण के बालिराजा (1931-32) में उत्कलीयों के नौ-वाणिज्य तथा उपनिवेश स्थापना को आधार बनाया गया है। कलिंग सम्राट ललितेंदु केशरी तथा ताम्रलिप्त के राजा काह्नुभूयां ऐतिहासिक पात्रों के अलावा अनेक काल्पनिक पात्रों का चरित्रांकन हुआ है। रांगेय राघव के 'मुर्दों का टीला' में भी भारतीय नौ-वाणिज्य का सविस्तार वर्णन मिलता है। विदेशों में भारतीयों की प्रतिष्ठा को दोनों उपन्यासकारों ने रेखांकित किया है।

हिंदी में साम्यवादी विचारों से प्रभावित हो कर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों में चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार उड़िया में रामप्रसाद सिंह, कालिंदीचरण पाणिग्राही, हरे कृष्ण महताब आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। इन उपन्यासकारों की कृतियों में वर्ग संघर्ष, नारी स्वातंत्र्य, समानाधिकार, सर्वहाराओं के प्रति संवेदनशीलता आदि के भावों में बड़ी भारी समानता पायी जाती है।

श्री चरुधर महापात्र के ऐतिहासिक उपन्यास 'रोउंग बनिस' (1948) का आधार उड़ीसा का इतिहास है। इस उपन्यास में घुमूसर के चार सौ कोंध जाति के लोगों के साथ मिल कर सिपाहियों ने बाणपुर पर आक्रमण किया था। पंद्रह हजार रुपये इकट्ठे किये। चील्का में नमक मालिकों की नौकाएं ले ली थीं, पुरी की कचहरी जला दी थी। इन ऐतिहासिक घटनाओं की कथात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में महापात्र जी को सफलता मिली है।

हिंदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वर्णित प्रेम के उज्ज्वल स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। उड़िया के ऐतिहासिक उपन्यासकार मुरलीधर मल्लिक के उपन्यास 'रजनी जाइछि बिति' (1964) में भी सुमंत एवं जया का प्रसंग उपस्थापित है। भैरव संन्यासी का चित्रण दोनों उपन्यासों में है।

अठारहवीं शताब्दी के एक संघर्षपूर्ण तथा गौरवमय अध्याय वाले उड़ीसा के राजनीतिक इतिहास को आधार बना कर सुरेंद्र महांति ने 'मीलशैल' की रचना की। सांप्रदायिकता से मुक्ति, रामचंद्रदेव का संग्राम, रामचंद्रदेव का कादर बेग बन जाना धर्मनिरपेक्षता का महिमा-मंडन आदि इस उपन्यास का प्राणतत्त्व है। सर्वधर्म समन्वयकारी जगन्नाथ संस्कृति का भी उपन्यास में वर्णन हुआ है।

श्री वामाचरण मित्र, विजयकृष्ण मिश्र, श्रीमती शांति महापात्र, मिहिर कुमारी महांति, कल्पना कुमारी देवी, वसंत कुमार सामल आदि के ऐतिहासिक उपन्यासों से यह धारा विकसित ही नहीं समृद्ध हुई है।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन हिंदी तथा उड़िया ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना संख्या की

दृष्टि से कम हुई है। राजनीतिक इतिहास में चित्रित पात्रों की मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना रचनाकार का उद्देश्य रहा है। राजनीतिक घटनाओं पर आधारित इतिहास में सांस्कृतिक जीवन एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य अवहेलित हो जाते हैं। आम आदमी की इतिहास चेतना के विकास के बिना ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रमुख अपील के महत्त्व को रेखांकित नहीं किया जा सकता है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों में सांप्रतिक मनुष्य की सार्वकालिक मानवीय प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता है। अंत में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'मृगनयनी', 'विराटा की पद्मिनी', 'दिव्या', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की तुलना में उड़िया ऐतिहासिक उपन्यास कुछ फीके पड़ते नजर आते हैं। ऐसा नहीं है कि ऐतिहासिक उपन्यासों के सृजन में उत्कल में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। परंतु जो शोधपूर्ण कार्य अपेक्षित है उसे संपन्न करने की मानसिकता उत्पन्न होनी चाहिए। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी एवं उड़िया ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा की सही पहचान हेतु शोध कार्य होना अपेक्षित है।

संदर्भ

1. डॉ. सत्यपाल चुघ, ऐतिहासिक उपन्यास, पृ. 39
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 446
3. डॉ. पूर्णानंद दानी, ओड़िआ ऐतिहासिक उपन्यास, पृ. 103
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 455
5. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, पृ. 155
6. डॉ. पूर्णानंद दानी, ओड़िआ ऐतिहासिक उपन्यास, पृ. ।16
7. डॉ. मन्मथनाथ दास, फकीरमोहन परिक्रमा, पृ. 33
8. डॉ. कृष्ण चरण बेहेरा, ओड़िआ उपन्यास, पृ. 178
9. डॉ. रामनारायण सिंह, हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यास, पृ. 106
10. डॉ. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृ. 286
11. ब्रजमोहन महांति, उड़िया साहित्य का आधुनिक युग (उपन्यास), पृ. 114
12. डॉ. अजय कुमार पटनायक, सांप्रतिक साहित्य सर्वेक्षण, पृ. 16

Smruti Nagar Smruti Mahavidyalaya

4

द्विवेदी युग एवं सत्यवादी युग

सन् 1900 से 1918 तक की अवधि को हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग एवं उड़िया में सत्यवादी युग के नाम से जाना जाता है। एतद्पूर्व हिंदी में भारतेंदु काल एवं उड़िया में राधानाथ युग ने आधुनिकता का शंखनाद किया था। प्रेस की स्थापना हो चुकी थी। फलस्वरूप, अनेक पत्र-पत्रिकाएं, किताबें प्रकाशित हुईं। प्रकाशन की सुविधा के चलते रचनाकारों ने भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना जगाने का प्रयास किया था। राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने के लिए भी प्रयत्न हुए। एक ओर हिंदी में 'सरस्वती' तो दूसरी ओर उड़िया में 'सत्यवादी' एवं 'समाज' जैसी पत्रिकाओं ने भारतीयों के स्वाभिमान को जगानें तथा प्राचीन ऐतिह्य एवं गौरवमय परंपराओं के प्रति उन्हें निष्ठावान बनाने का व्रत धारण किया।

बीसवीं शताब्दी के पदार्पण के साथ साथ नयी जनरुचि उत्पन्न होती है। भक्ति एवं श्रृंगार की तंग गलियों से कविता बाहर निकली। विषयवस्तु में वैविध्य आया, नवीनता आयी। युगीन समस्याएं, राष्ट्रीय चेतना, मानवता, आदर्श की स्थापना, नये काव्य रूपों का प्रयोग आदि आलोच्य काल की प्रमुख विशेषताएं रही हैं। हिंदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने समकालीन रचनाकारों को साहित्य सृजन हेतु उत्साहित किया तो उड़िया में उत्कलमणि गोपबंधु दास ने सत्यवादी युगीन रचयिताओं को अमोघ प्रेरणा दी। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि ने युगीन प्रभाव के अनुकूल काव्य सृजन किया। उड़िया में नीलकंठ दास, मधुसूदन राव, गोदावरीश महापात्र, गंगाधर मेहेर, नंदकिशोर, पद्मचरण आदि ने सत्यवादी युगीन साहित्य को समृद्ध किया। इस संदर्भ में 'उड़िया के प्रेमचंद' फकीरमोहन सेनापति की बहुमूल्य भूमिका भी चिरस्मरणीय है।

द्विवेदी एवं सत्यवादी युग की कविताओं का मूल स्वर राष्ट्रीयता था। हालांकि भारतेंदुकालीन एवं राधानाथयुगीन कविता ने इसकी समृद्ध पीठिका तैयार की थी।

द्विवेदी एवं सत्यवादीयुगीन कवियों ने राष्ट्रीय चेतना को पल्लवित तथा पुष्पित किया। इन कवियों ने पराधीनता को सबसे बड़ा अपमान ही नहीं अभिशाप माना। उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए आत्मोत्सर्ग को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, बलिदान की प्रेरणा दी। कवि नाथूराम शर्मा 'शंकर' के शब्दों में :

''देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।''

उड़िया के जातीय कवि वीरकिशोर को जातीय संगीत की रचना करने के अपराध में कई बार कारावरण करना पड़ा था। आर्थिक दंड भरना पड़ा था। परंतु इन्हीं समस्याओं ने वीरकिशोर को अधिकाधिक जातीय संगीत रचना करने की प्रेरणा दी क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय भावना को पल्लवित करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। तभी तो उन्होंने लिखा है :

''सीने पर पत्थर रखे सारा दु:ख सहूँगा
नहीं चाहिए मुझे स्वर्ग नरक भी भोगूँगा
पर देशोद्धार हेतु फाँसी के फंदे पर चढ़ूँगा, चढ़ूँगा।''

द्विवेदी एवं सत्यवादीयुगीन कवियों ने जन्मभूमि अथवा मातृभूमि के प्रति प्रेम को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया है। द्विवेदी जी की 'जन्मभूमि', 'प्यारा वतन', 'वंदे मातरम', राय देवीप्रसाद पूर्ण की 'वंदे मातरम', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की 'राष्ट्रीय मंत्र', रामनरेश त्रिपाठी की 'पथिक', 'मिलन' एवं मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' जैसी रचनाओं में मातृभूमि प्रेम के ज्वलंत दृष्टांत मिलते हैं। इसी प्रकार गोपबंधु दास की 'सारला दास', 'वाणी', मधुसूदन दास की 'संतानर उक्ति', नीलकंठ की 'खारबेल', गोदावरीश मिश्र की 'जन्मभूमि', 'जन्मभूई', लक्ष्मीकांत महापात्र की 'जातीय गीत' जैसी कविताओं में मातृभूमि के प्रति प्रेम भावना अभिव्यक्त हुई है।

मैथिलीशरण गुप्त ने जन्मभूमि को 'पूजनीया' कह कर काव्य संवेदना तथा युगीन संवेदना के संपर्क को जोड़ने का प्रयास किया है :

''मातृभूमि पवित्र पूजनीया जानिए।''[1]

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने अपनी 'वंदे मातरम्' शीर्षक कविता में जन्मभूमि की वंदना करते हुए कहा है :

''वंदे वंदे मातरम् सदा पूर्ण विनयेन
श्रीदेवी पर वंदिता या निज पुत्र जनेन।''[2]

उड़िया कवि लक्ष्मीकांत महापात्र ने उत्कल जननी की सुंदरता की स्तुति की है। ज्ञात हो कि यह गीत संपूर्ण उत्कल प्रांत में अत्यधिक आदृत है। यह गीत समस्त उत्कलीयों के हृदय में जन्मभूमि के प्रति एकनिष्ठ प्रेम का निदर्शन है :

''वंदे उत्कल जननी
चारु हासमयी, चारु भाषमयी, जननी, जननी, जननी।''[3]

कवि गोदावरीश मिश्र ने भारतमाता को मानवी के रूप में चित्रित किया है। माता-पुत्र के घनिष्ठ संबंध की आत्मीयता तथा सहृदयता के चित्र उकेरने, उससे अलग हो कर विरहजन्य पीड़ा की तीव्रता को अभिव्यंजित करने, मिलनोत्कंठा प्रदर्शित करने एवं सर्वोपरि जन्मभूमि के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न करने के उद्‌देश से गोदावरीश का निम्न पद द्रष्टव्य है :

''प्रतीक्षारत होगी मेरी जन्मभूमि
गोद में लेने नयनमणि को
जा कर मिलूँगा सीने से उसके
पुलकित होऊँगा स्पर्श से उसके।''[4]

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' भाव को उत्कलमणि गोपबंधु दास एवं उत्कल गौरव मधुसूदन दास ने प्रतिष्ठित किया है :

''जननी जन्मभूमि है स्वर्ग से भी गरीयसी।
गाये हैं जो पुण्य श्लोक सुकवि महाऋषि॥''[5]

मधुसूदन दास ने भी मुक्त कंठ से गायन किया है :

''अपमान के चलते जननी मेरी
उत्कल भूमध्य निवासी।
उत्कल की माटी पूनीत हुई
है यह स्वर्गादपि गरीयसी॥''[6]

द्विवेदी एवं सत्यवादीयुगीन रचनाओं में देश प्रेम की उत्कर्षता भी प्रतिपादित हुई है। राष्ट्र के प्रति बलिदान एवं अनन्य उत्सर्ग की भावना भी प्रकट हुई है। ऐसा नहीं कि प्राचीन साहित्य में देशप्रेम की भावना नहीं थी। परंतु 'पैट्रिओटिज्म' अथवा 'नेशनालिज्म' के संदर्भ में राष्ट्र प्रेम की जो बात है, उसका अभाव था। इसके पीछे यह कारण हो सकता है कि रचनाकार जब देश, काल, परिस्थिति से अनभिज्ञ होता है अथवा उसकी कुछ हद तक उपेक्षा करते हुए आत्मलीन रहता है तब स्वदेश प्रीति का अभाव रह

सकता है। परंतु जब वह अपने देश की तमाम गतिविधियों का मूकद्रष्टा न बन कर उसमें सक्रिया सहभागिता प्रदान करता है, कारावरण करते हुए यथार्थ को अपने अनुभव का आधार बनाता है, सचेतनशील होता है तो उसकी रचनाओं में राष्ट्र प्रेम की अनुगूंज सुनायी पड़ती है। द्विवेदी तथा सत्यवादी युगीन रचनाकारों के लिए स्वदेश प्रेम की अनुभूति काल्पनिक जगत से नहीं हुई थी। यथार्थ के ठोस धरातल से अर्जित थी। आदर्श, समर्पण एवं दृढ़ संकल्प का व्रत अपनाने हेतु उत्साहित करना इन कवियों ने अपना कवि धर्म स्वीकारा। बलिदान की भावना को भारत के कोने कोने में पहुंचाने के उद्देश्य से माखनलाल चतुर्वेदी 'पुष्प की अभिलाषा' कविता में कहते हैं :

''मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ पर जायें वीर अनेक।''

उत्कलमणि गोपबंधु दास ने भी उपर्युक्त भावपरक अनेक रचनाएं की हैं। इन रचनाओं में कवि की राष्ट्रीय भावना की सार्थक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। त्याग, समर्पण तथा बलिदान की भावनाओं से भरपूर कवि की निम्न पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

''मिले मेरी देह इस देश की मिट्टी में
देशवासी चलें पाँव रखे मेरी पीठ पर
आजादी के लड़ाईवाले मैदान के सारे गड्ढे
पट जायँ भर जायँ मेरे हाड़-माँस से।''[7]

द्विवेदीकालीन कवियों ने भारत, भारतवर्ष, हिंदुस्तान को अपनी जन्मभूमि के रूप में स्वीकार किया है। अर्थात् भारत का किसी एक भूखंड जन्मभूमि न हो कर संपूर्ण भारत को जन्मभूमि के रूप में चित्रित किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने भारतभूमि की जयध्वनि की है। उसकी गौरवोज्ज्वल परंपरा का बखान किया है :

''जय जय भारत भूमि भवानी।
अमरों ने तेरी महिमा बारंबार बखानी।''[8]

भारतेंदुयुगीन भारत की दुर्दशा देख कर कवि प्राण रोते हुए गा उठा था :

''आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा देखि न पाई।''

यद्यपि यहां एकता है और सभी भारतीयों के लिए 'भारत भाई' संबोधित है परंतु भारत की दीन-हीन दशा देख कर सभी मिल कर रोने की बात कही गयी है। अर्थात् आमंत्रण है रोने के लिए। द्विवेदीकाल में यह रोने की बेला टल चुकी थी। अब रोने से उद्देश्य

की पूर्ति नहीं हो सकती थी। समस्याएँ विकट रूप धारण कर रही थीं। ऐसी दशा में भारत की म्लान हो चुकी वर्तमान स्थिति पर विचार करने हेतु गुप्त जी का आह्वान है :

"हम कौन थे क्या हो गये और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी॥"[9]

इस विचारावस्था में गुप्त जी ने भारत के अतीत गौरवमय अध्यायों को स्मरण किया है तथा भारतीय सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विद्या, कला, कर्म आदि को विश्व में श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहा है :

"हाँ वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?"[10]

सत्यवादीयुगीन कवियों ने भारत के स्थान पर 'उत्कलजननी' की दशा एवं स्थिति पर विचार किया है। 'उत्कल जननी' का गुणगान भी किया है। परंतु यह उत्कलीयता कहीं भी भारतीयता का बाधक बन कर नहीं आती है। इसमें प्रांतीयता की गंध तक नहीं है। मधुसूदन राव ने स्पष्ट रूप से कहा है : 'उत्कल जननी और भारत जननी में कोई अंतर नहीं है। शरीर के किसी अंश में पीड़ा होने से उस अंश की चिकित्सा करनी होगी। किंतु उस अंश विशेष की चिकित्सा द्वारा समस्त शरीर की उन्नति होगी, उत्कल की चिकित्सा का उद्देश्य भारत की उन्नति।"[11] किसी भी उन्नत जाति को अपने गौरवमय अतीत पर अभिमान होना चाहिए। इससे भविष्य भी गौरवपूर्ण हो सकता है। उत्कल की उन्नति को नजरंदाज कर भारत की उन्नति संभव नहीं है। जिस प्रकार कि शरीर के किसी अंग के अपाहिज हो जाने पर व्यक्ति पंगु हो जाता है, ठीक उसी रूप में भारत का विकास उसके अंग राज्यों के विकास के बिना असंभव है।

पंडित नीलकंठ दास, गोपबंधु दास, गोदावरीश आदि की रचनाओं में उत्कल-माता के अतीत, वैभव एवं प्राचीन ऐतिह्य का गुणगान है। साथ ही कवि के समसामयिक समाज की शोचनीय स्थिति का भी मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। गोपबंधु की कविता में उपर्युक्त विचार की अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है :

"उत्कल माता का अतीत यश
विपुल वैभव बल व साहस
सुमिरण करते फटे हृदय
देखें अवस्था का यह विपर्यय।"[12]

मधुसूदन सुप्त उड़िया जाति को जागरण का संदेश प्रदान करते हैं। उसे अपने गौरवमय अतीत की स्मृति दिला कर उद्‌बोधन करते हैं :

''जागो रे जागो रे उत्कल संतान
जागेगा फिर तू गब
अतीत गौरव अतीत साहस
स्मरण होगा फिर कब?''[13]

स्पष्ट है कि द्विवेदी कालीन तथा सत्यवादीयुगीन कवियों ने निराश एवं हताश भारतीयों के मन में इतिहास के स्वर्णिम अध्यायों का स्मरण दिला कर स्वतंत्रता आंदोलन में नये उत्साह के साथ कूदने के लिए प्रेरित किया है। भारतीय नर-नारियों को जागरण के मंत्र में दीक्षित करने के लिए, उन्हें प्रोत्साहित करते हुए इलाचंद्र जोशी ने लिखा था :

''अब उठो हिंद के नर-नारी
अब वीर बनो, अति धीर बनो, रणधीर बनो।''

जब तक देश की जनता को जागृत नहीं किया जाता, जब तक उन्हें एकता के सूत्र में पिरो कर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन हेतु प्रेरित नहीं किया जाता तब तक जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों से मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं होगी। सचेतनशीलता तथा जागृति के बिना देश की दुर्दशा से निज़ात पाना संभव नहीं है। इन तत्त्वों को आलोच्य काल के कवियों ने हृद्‌बोध किया और जागरण गीत लिखे। जागरण गीतों ने समाज को नयी स्फूर्ति दी तथा अदम्य शक्ति प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुए। कवि रूपनारायण पांडेय के शब्दों में :

''उठो, उठो, क्यों शिथिल पड़े हो?
देखो सुदिन सबेरा।''[14]

महावीर प्रसाद द्विवेदी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के समर्थक थे। परंतु उसके अंधभक्त नहीं थे। उसके सार्थक विवेचन के पश्चात उसे अपनाने की हिमायत करते थे। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा की मान्यता भी है : ''उद्योगीकरण ठीक, विज्ञान की शिक्षा और भी ठीक, किंतु यूरोप की तरह दूसरों को गुलाम बनाने के लिए युद्ध करना बिलकुल ठीक नहीं।''[15] द्विवेदी जी को यह भी पता था कि भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़िवाद कुसंस्कारों के निराकरण के बिना जागरण सुधार असंभव है। अर्थात उन्होंने एक ओर अतीत की गलित परंपराओं को त्यागने का आग्रह किया तो दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान के महत्त्व को स्वीकारा। भारतीय संस्कृति के अमूल्य तत्त्वों एवं वैशिष्ट्यों को भी रेखांकित किया। उनके विचारों से प्रभावित हो कर मैथिलीशरण ने 'हिंदू', 'भारत भारती' आदि के माध्यम से भारतीय संस्कृति की उदारता एवं श्रेष्ठता को घर घर पहुंचाने का स्तुत्य प्रयास किया :

''संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।''[16]

पंडित नीलकंठ दास के विचार अन्य सत्यवादीयुगीन कवियों से सामान्य भिन्न हैं। नीलकंठ उत्कलीयता से भारतीयता पर अधिक जोर देते हैं जबकि अन्य कवि उत्कलीयता को प्राधान्य देते हैं। वे कवि अपने को उड़िया, उत्कलीय तो कहते हैं परंतु भारत की संतान होने का उन्हें गौरव बोध कम नहीं है। नीलकंठ ने भारतीय आर्यों के समर-कौशल की उत्कृष्टता को दर्शाते हुए कहा है :

''भारत भुवन में समर विधान में
आर्य गौरव है शाश्वत कला।
कीर्ति कर्म महान धर्म से
समाप्त हो गयी यवनों की दुंदुभि लीला॥''[17]

राष्ट्रीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में भाषा चेतना की महती भूमिका है। द्विवेदी एवं सत्यवादी युग के पूर्व भारतेंदु एवं राधानाथ युग में 'निज भाषा' तथा 'मातृभाषा' का नारा दिया जा चुका था। उस नारा का यथार्थ रूपायन द्विवेदी काल एवं सत्यवादी युग में हुआ। आलोच्य काल में सभी कवियों ने मातृभाषा को माता का स्थान प्रदान किया। द्विवेदी जी ने मातृभाषा को माता से भी अधिक पूजनीया बताया है :

''माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई
भाषा है उसी प्रकार महा सुखदायी।
माता से भी पूज्य विशेष देश भाषा है
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है॥''[18]

उड़िया भाषा के अस्तित्व के संकट काल में फकीरमोहन, राधानाथ राय, गंगाधर मेहेर जैसे कवियों ने मातृभूमि के साथ साथ मातृभाषा का भी गौरव गान किया है :

''मातृभूमि मातृभाषा की ममता
हृदय में जिसके उपजी नहीं
उसे यदि ज्ञानी जन में गिनें
अज्ञान के रूप में रहे फिर कोई?''

मातृभाषा के प्रति आदर भाव पोषित न करने वाला मनुष्य पदवाच्य नहीं, निरा पशु है इस संदर्भ में मधुसूदन राव का स्मरण किया जा सकता है। उन्होंने मातृभाषा की उन्न के लिए प्रयास करने हेतु उत्साहित आग्रह किया है। इसे प्रत्येक व्यक्ति अपना प

कर्तव्य माने, ऐसा उन्होंने आग्रह किया है। इस कर्त्तव्य संपादन से मानव-जीवन सार्थक हो सकता है :

''मातृभूमि मातृभाषा दोनों हैं जननी
सेवा करूं सादर मैं उनकी दिवस-रजनी
सार्थक हो मेरा मानव जन्म पारावार
इच्छा मेरी पूरी करें प्रभु बार बार॥''[19]

आलोच्य काल के कवियों ने भाषा एवं जातीयता की अभिन्नता को समझा था। भाषा की आधारशिला को मजबूत किये बिना जातीयता की नींव दृढ़ नहीं बन सकती। एक ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी में भाषा आंदोलन को दृढ़ता प्रदान की तो दूसरी ओर गोपबंधु एवं मधुसूदन दास ने उड़िया भाषा के अस्तित्व के संकट को दूर किया, भाषा प्रेम एवं जातीयता को समुन्नत किया। रामविलास शर्मा ने आचार्य द्विवेदी की परिनिष्ठित हिंदी के लिए किये गये प्रयास पर प्रकाश डालते हुए कहा है : ''द्विवेदी जी समझते थे कि हिंदी में गदर मचा हुआ है और यहां शांति स्थापित करना उनका काम है। पर उनकी यह भूमिका सभी लोग स्वीकार करने को तैयार न थे। वाद-विवाद के दौरान थोड़ा-बहुत कीचड़ भी उछाला गया, साड़ी और लहंगे की बातें हुईं, पर कुल मिला कर यह बहस लाभदायक थी। हिंदी को परिनिष्ठित रूप देना एक ऐतिहासिक आवश्यकता को पूरा करना था। वह आवश्यकता इस रूप में पूरी हुई कि हिंदी लेखक अपनी भाषा के प्रति अधिक सतर्क रहने लगे।''[20]

द्विवेदी काल में धर्म अपनी तंग गली से निकल कर मानवता के प्रशस्त राजमार्ग पर पहुंचने का प्रयास करता है। एतदर्थ रूढ़ियों को तोड़ना एवं संकीर्णताओं को त्यागना परमावश्यक था। धर्म को तर्कसम्मत, वैज्ञानिक एवं विवेकसम्मत बनाने का प्रयत्न भी हुआ। 'प्रियप्रवास' में राधा जनसेवा में तल्लीन पायी जाती है तो 'साकेत' में राम मानव के ठोस धरातल पर उतर आते हैं। मधुसूदन राव ब्राह्म धर्म में दीक्षित हुए थे। ईसाई थे परंतु उनकी धार्मिक चेतना में सांप्रदायिकता का कोई स्पर्श तक न था। गोपबंधु ने 'धर्मपद' में कर्मवाद को महत्त्व देते हुए कर्म को जीवन का मानदंड माना है। उल्लिखित काल में मानव सेवा को ही धर्म का मुख्य उद्देश्य माना गया। गुप्त जी ने ''मनुष्यता को सुरत्व की जननी'' कहा है तो गोपबंधु ने मानव प्रेम के माध्यम से विश्वप्रेम की भावना को विकसित करने की बात कही है :

''मेरे प्राण की प्रेमधारा से भरेगी धरा।
बनेगा यह विश्व मेरा प्रेम पसेरा॥''[21]

सुधारवादी आंदोलन के प्रभाव से सांप्रदायिकता, अलगाववाद, जातिवाद और भेद-भाव उत्पन्न करने वालों को आड़े हाथ लिया गया। जाति वर्ग-वर्ण-धर्म के भेदभाव को पूरी तरह से ठुकराया गया। मनुष्य मात्र को एकता के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया गया। मानवीयता का प्रचार हुआ। भाईचारा का पाठ पढ़ाया गया। द्विवेदी कालीन कवि रूपनारायण पांडेय ने अलगाववाद को दूर करने हेतु आह्वान किया है :

''जैन, बुद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख-ईसाई।
कोटि कंठ से मिल कर कह दो हम सब हैं भाई भाई॥''[22]

गोपबंधु ने भी हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई आदि धर्मों के लोगों को भारतमाता की संतान कहा है :

''हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, ख्रीस्तान
सिख, जैन आदि हैं भारत-संतान
सभी धर्म, सभी जाति-वर्ण-कुल
भारत जननी है सबकी भूल।''[23]

सत्यवादी युगीन प्राय: सभी कवि उच्च शिक्षा प्राप्त थे। परंतु वे नौकरी से मुक्त थे। देशसेवा ही उनके साहित्य तथा जीवन का कर्म, धर्म तथा उद्देश्य रहा। वे सर्वप्रथम देशसेवक थे, बाद में रचनाकार। परंतु द्विवेदीयुगीन रचनाकारों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है। स्वयं महावीरप्रसाद रेलवे कर्मचारी थे। उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र तो दे दिया परंतु 'सरस्वती' में साहित्य सेवा के उद्देश्य से नौकरी ले ली। सन् 1903 के पश्चात हिंदी में 'सरस्वती' में राजनीतिक विचारों से अधिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों के प्रति अधिक आग्रह पाया गया। राजनीतिक विचारों से परहेज होने का दावा 'सरस्वती' करती थी। राजनीतिक विचारों के प्रकाशन के लिए 'सरस्वती' का संविधान आज्ञा नहीं देता था। दूसरी ओर 1910 में सत्यवादी में 'वन विद्यालय' की स्थापना हुई। शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा सचेतनशीलता जागृत करने हेतु सार्थक कदम उठाये गये 'सत्यवादी' एवं 'समाज' आदि में राजनीतिक विचारों से कभी कोई दुराग्रह नहीं था ऐसी कोई विवशता भी नहीं थी कि राजनीति विषयक रचनाएं प्रकाशित न हों। सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्निर्माण हेतु सत्यवादीयुगीन रचनाकारों ने राजनीति को अछूता न मान कर राजनीतिक दांव-पेंच की कटु आलोचना की। जनसेवा में जुटे रचनाकार देशहित के लिए कारावरण करने के लिए भी तत्पर थे।

द्विवेदीयुगीन एवं सत्यवादीयुगीन रचनाकारों ने साहित्य सृजन के द्वारा साहित्य भंडार को समृद्ध किया। दीन-हीन किसानों, बाढ़ पीड़ित लोगों के प्रति अपार सहानुभ

प्रदर्शित की। उनकी शोचनीय मार्मिक दशा के प्रति संवेदना प्रकट की। उन्होंने रूढ़िवादिता का विरोध किया। भेदभाव को खंडित किया। राष्ट्रीय एकता, जातीय चेतना को उद्‌बुद्ध किया। सांस्कृतिक पुनर्निर्माण हेतु श्लाघ्य प्रयत्न किया। संक्षेप में, आलोच्य काल के रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा राष्ट्रीय चेतना एवं जनचेतना के स्वर को निनादित किया है।

संदर्भ

1. रंग में भंग, पृ. 32
2. स्वदेश कुंडल, पद 52
3. कांत साहित्यमाला, पृ. 1081
4. गोदावरीश ग्रंथावली, पृ. 361
5. कारा कविता, पृ. 14
6. संतानर उक्ति, पृ. 61
7. वंदीर आत्मकथा, पृ. 2
8. मंगलघट, पृ. 33
9. भारत भारती आमुख की पंक्तियां
10. भारत भारती, पृ. 10
11. संतानर उक्ति, पृ. 61
12. अवकाश चिंता, पृ. 2
13. कुलवृद्ध मधुसूदन, पृ. 59
14. पराग, पृ. 20
15. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ. 135
16. भारत भारती, पृ. 4
17. कोणार्क, पृ. 35
18. द्विवेदी काव्यमाला, पृ. 374
19. मधुसूदन ग्रंथावली, पृ. 58
20. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ. 268-269
21. कारा कविता, पृ. 49
22. पराग, पृ. 25
23. वंदीर आत्मकथा, पृ. 23

5

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद यथार्थ के आईने में

फकीरमोहन सेनापति (1843-1918) और प्रेमचंद (1880-1936) भारतीय साहित्य के दो अमर कथाकार हैं। दोनों मृत्युंजयी वीरों ने अपने अपने साहित्य में युग प्रवर्तन का कार्य किया एवं उसे नया स्वर प्रदान किया। उन्होंने साहित्य में नयी धारा चलायी और उसे विकसित किया। उड़ीसा के फकीरमोहन को 'व्यासकवि', 'सरस्वती' आदि उपाधियां प्राप्त हुई थीं। हिंदी के पाठकों ने प्रेमचंद को 'कथा सम्राट' की उपाधि से विभूषित किया। दोनों साहित्यकारों की रचनाओं से सारस्वत भंडार परिपूर्ण एवं समृद्ध हुआ एवं भारतीय कथा साहित्य की समृद्ध परंपरा की शुरुआत हुई।

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद का बाल्यकाल अत्यंत गरीबी में व्यतीत हुआ था। शैशवकाल से ही दुख, कष्ट, अभाव, असुविधाएं छाया की भांति बने रहे। प्रेमचंद को 12-13 साल तक माता आनन्ददेवी की ममता मिली थी परंतु फकीरमोहन जब केवल एक वर्ष पांच महीने के थे उन पर पिता की छत्रछाया नहीं रही। इसके एक साल पश्चात माता की ममता से भी उन्हें वंचित होना पड़ा। अल्पायु में विधवा बनी दादी कुचिला देई की देखरेख में फकीरमोहन बड़े हुए। विमाता के अवतरण से प्रेमचंद का जीवन कष्टमय एवं दुर्विसह हो उठा। कुल मिला कर अढ़ाई साल की स्कूली शिक्षा फकीरमोहन को नसीब हुई। तमाम मुसीबतों का सामना करते हुए प्रेमचंद ने इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की थी। इसके मूल में इन रचनाकारों का स्वाध्याय, उसकी कष्ट सहिष्णुता एवं निस्वार्थपरता आदि का महती योगदान रहा है। कथाकारों की रचनाओं में स्वानुभूति का महत्त्व सर्वाधिक है। उन्होंने जीवन संघर्ष से नयी प्रेरणा ली और इसी कारण से उनकी रचनाएं कुंद की भांति जाज्वल्यमान होती रहीं।

यह एक विचित्र संयोग है कि फकीरमोहन तथा प्रेमचंद का प्रथम विवाह पूर्णतया असफल रहा। दोनों की पत्नी न तो सुदर्शना थीं और न ही अच्छे स्वभाव की। दोनों

झगड़ालू थीं, कर्कश भाषिणी थीं। इतना ही नहीं अपने कथाकार पति के जीवन में मानसिक अशांति एवं तनाव की नरक यंत्रणा भर देने में कोई कोताही नहीं बरतती थीं। फकीरमोहन की दूसरी पत्नी कृष्ण कुमारी और प्रेमचंद की बालविधवा शिवरानी देवी ने प्रेम के कल्याणकारी स्पर्श से सारस्वत तपोवन को समृद्ध करने में अपनी अपनी भूमिका निभायी थी।

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद का साहित्य में पदार्पण अत्यंत महत्त्वपूर्ण तरीके से हुआ था। बंगला के कांतिचंद्र भट्टाचार्य की किताब 'उड़िया स्वतंत्र भाषा नय' (उड़िया एक स्वतंत्र भाषा नहीं) से उड़िया जाति, भाषा एवं संस्कृति घोर अपमानित हुई। फकीरमोहन ने उड़िया भाषा विलोप षड़यंत्र के विरुद्ध प्रतिवाद किया, उसके विरुद्ध आंदोलन भी खड़ा कर दिया। उन्होंने लिखा भी है : ''अब रात दिन केवल एक ही चिंता लगी रहती है। एक ही लक्ष्य है, चाहे जैसे भी हो मातृभाषा की उन्नति के लिए प्राणोत्सर्ग करना होगा।''[11] उन्होंने कम उम्र में ही उड़िया में कुछ पाठ्यपुस्तकें लिखीं और उड़िया के लोकप्रिय काव्यों के प्रकाशन हेतु उत्साहित किया। संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, उड़िया के ज्ञाता फकीरमोहन ने पाठ्यपुस्तकों के लिए कुछ अनुवाद भी किया। मातृभाषा की उन्नति का साधन अन्यतम उद्देश्य बना। यह सर्वविदित तथ्य है कि 1908 में प्रेमचंद का प्रथम उर्दू कहानी संकलन 'सोजेवतन' की सात सौ प्रतियां अंग्रेज सरकार ने जब्त कर जला दी थीं। राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद करने वाले 'सोजेवतन' के साथ बुरे हश्र के पश्चात प्रेमचंद का हिंदी साहित्य में आविर्भाव हुआ। उर्दू के प्रसिद्ध संपादक मुंशी दयानारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद के नाम से हिंदी में लिखने के लिए उत्साहित किया था। तिलस्मी-ऐयारी, जादू-टोना के इंद्रजाल से हिंदी कथा साहित्य को निकाल कर उसे नयी दिशा देते हुए 'पंच परमेश्वर' (1915) एवं 'सेवासदन' (1918) से यह स्पष्ट कर दिया कि कथा का संबंध 'मानव जीवन' से ही है 'जन जीवन' से है। हालांकि उनसे बीस-इक्कीस वर्ष पूर्व फकीरमोहन ने कहानी और उपन्यास को मानव जीवन से संबंधित कर दिया था। प्रेमचंद ने स्पष्ट कर दिया : 'कहानी का आधार अब घटना नहीं अनुभूति है।'

भारतीय समाज की वास्तविकताओं का यथार्थपरक चित्रण प्रस्तुत करने वालों में उपन्यासकार फकीरमोहन सेनापति का नाम सर्वप्रथम आता है। इस संदर्भ में डॉ. मायाधर मानसिंह का कथन द्रष्टव्य है : ''भारतीय साहित्य में ऐसी कितनी रचनाएं हैं जिनमें गांव के सीधे-सादे लोगों को आधार बना कर इतनी मार्मिक एवं उदात्त त्रासदिक कथाएं मिलती हैं? फकीरमोहन से पहले किस लेखक ने गांव के फटेहाल और मूर्ख लोगों को अपनी रचनाओं का नायक और नायिका बनाया है? न केवल इस पुस्तक (छ माण आठ गुंठ) में बल्कि अपनी सभी औपन्यासिक कृतियों में फकीरमोहन के सबसे

जीवंत पात्र नाई, जुलाहे, खेतिहर मजदूर और अछूत हैं।'" कलम के सिपाही प्रेमचंद की कथाकृतियों में शताब्दियों से पीड़ित, अवहेलित, निष्पेषितों की मूकता को वाणी प्रदान की गयी है।

फकीरमोहन का रचना संसार 1897-1918 तक है। परंतु बीस-इक्कीस वर्षों की अवधि में उनकी साहित्य साधना से संपूर्ण भारतीय साहित्य गौरवान्वित हुआ है। 55 वर्षों के लंबे प्रकाशन अनुभव के पश्चात उनके 'छ माण आठ गुंठ' (छह बीघा जमीन) उपन्यास का प्रकाशन 1897 में हुआ। इसके बाद 'लछमा' (1901) 'मामुं' (मामा-1913) एवं 'प्रायश्चित' (1913) प्रकाशित हुए। फकीरमोहन ने लगभग तीस कहानियां लिखी हैं। संख्या की दृष्टि से फकीरमोहन की कथाकृतियों का भले ही महत्त्व न हो परंतु कथाशिल्पी की सफल लेखनी से इसका सर्वाधिक महत्त्व है। कथाकार ने संघर्षमय एवं कर्ममय जीवन से प्राप्त अनुभवों की रचना का आधार बनाया। उन्होंने हाड़-मांस के बने पुतलों को उनकी समग्रता के साथ पात्रों के रूप में चित्रित किया है। प्रेमचंद ने भी 'सेवासदन' (1918) से ले कर 'गोदान' (1936) एवं 'पंच परमेश्वर' (1915) से 'कफन' (1936) तक के रचना संसार में अपने 'भोगे हुए यथार्थ', दीर्घ लेखकीय अनुभव को सफल ढंग से पिरोया है। फकीरमोहन की तरह प्रेमचंद ने भी यथार्थवादी चेतना को विकसित किया है।

फकीरमोहन और प्रेमचंद के समाज को एक साथ दोहरे अत्याचार का सामना करना पड़ता था। उसे एक ओर साम्राज्यवादी ताकतों का भार वहन करना पड़ता था तो दूसरी ओर सामंतवादी शोषण एवं अनाचार का बोझ ढोना उसकी मजबूरी बन गयी थी। ऊपर से आम जनता उपयुक्त शिक्षा के अभाव में रूढ़िग्रस्त सामान्य जनता की खोखली मान्यताओं, अनुपयोगी आदर्शों, जर्जर मान्यताओं एवं सड़ी-गली परंपराओं से अपने जीवन को अधिक कष्टप्रद एवं शोचनीय बना रही थी। आलोच्य कथाकारों ने शोषण और अत्याचार के विरुद्ध स्वरोत्तलन किया, आम जनता को राष्ट्रीय जीवन और पुनर्जागरण की ओर उन्मुख करने का सफल प्रयास भी किया है।

फकीरमोहन के 'छ माण आठ गुंठ' में किसान जीवन की करूण गाथा का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। 'गोदान' को 'भारतीय किसान जीवन का महाकाव्य' कहा जाता है। कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से दोनों उपन्यासों में अद्‌भुत समानताएं भी मिलती हैं। भगिया और शारिया के दांपत्य जीवन के सुख-दुख को होरी और धनिया के जीवन में प्रतिबिंबित पाया जाता है। 'छ माण आठ गुंठ' का रामचंद्र मंगराज और 'गोदान' का झिंगुरी सिंह एक ही सांचे में ढले हुए हैं। दोनों अत्याचारी, लोभी, निर्दय, व्यभिचारी हैं। होरी के जीवन का एक सपना था कि वह एक गाय पाले। भगिया-शारिया के पास एक गाय थी जिसे वे अपनी संतान से भी अधिक

प्रेम करते थे। रामचंद्र मंगराज की कुदृष्टि से उनकी 'नेत' गाय न बच सकी। संतानवत् 'नेत' के पीछे पीछे चल कर शारिया मंगराज के लोगों से लड़ती है। वह अपना विरोध भी प्रदर्शन करती है। परंतु वह बुरी तरह से घायल हो कर मंगराज के घर के पिछवाड़े हमेशा के लिए आंखें मूंद लेती है।

भगिया एवं होरी दोनों धर्मभीरू हैं। उनके धार्मिक विश्वास को हथियार बना कर सामंतवाद अपना उग्र शोषणचक्र चलाता है। भगिया के पास गांव की सर्वाधिक उर्वरभूमि 'छ माण आठ गुंठ' थी। उसके कुसंस्कार और भोलेपन का फायदा उठा कर मंगराज ने चंपा के माध्यम से यह प्ररोचित किया कि ठकुराइन के मंदिर निर्माण से निस्संतान दंपति को पुत्र रत्न प्राप्त होगा। इस षड़यंत्र का शिकार हो उक्त दंपति जमीन गिरवी रखते हैं। 'गोदान' के होरी की तरह भगिया भी बंधक पत्र पर अंगूठा लगा देता है। फलस्वरूप उसकी अपनी जमीन मंगराज के नाम हो जाती है। जुलाहा परिवार कहीं का न रहा, किसान मजदूर बन गया। होरी आजीवन जमींदार के तलवे सहलाने के बावजूद अपने छोटे से सपने को सार्थक न बना सका। पत्नी-वियोग में भगिया पागल हो जाता है। कारागृह में मंगराज को देख कर भगिया के मन में प्रतिशोध की तीव्र ज्वाला भड़क उठती है। उसने अपने दांतों से मंगराज की नाक काट ली। दूसरे कैदियों ने मंगराज को इतना मारा कि वह खून से लथपथ हो गया। वह रक्त वमन करने लगा।"[3] ऐसी क्रांतिकारिता का 'गोदान' में अभाव पाया जाता है। प्रेमचंद धनिया अथवा गोबर के माध्यम से विरोध प्रकट करते जरूर हैं पर सामंतवाद/साम्राज्यवाद को चुनौती देने में सर्वदा असमर्थता प्रकट करते पाये जाते हैं। हालांकि यह सच है कि 'गोदान' की सार्थकता उसके शाणित व्यंग्य में निहित है।

आलोच्य उपन्यासकारों ने लेखन कार्य में कल्पना को आधार नहीं बनाया है। उन्होंने तटस्थ हो कर अपने चरित्रों की गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का गहरा विश्लेषण एवं अनुशीलन किया है। मनुष्य के चारों ओर घिरी बुराइयों के बारे में जाग्रत करते हुए क्रूरता, विषमता, अत्याचार आदि का चित्रण प्रस्तुत कर उज्ज्वल संभावनाओं की सूचना देना ही कथाकारों का प्रमुख उद्देश्य है। इस संदर्भ में दामियॉ ग्रॉ का कथन द्रष्टव्य है :

The coherence theory of realism, on the other hand is the consciousness of literature; its self-awareness, its own ontological status. Here, realism is achieved not by imitation but by creation; a creation which working with the materials of life, absolves these by the intercession of the imagination from mere factuality and translates them to a higher order.[4]

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद ने संघर्षशील यथार्थ पात्रों का चयन किया है। दोनों रचनाकारों ने पात्रों के चयन में यथार्थवादी दृष्टि अपनायी है। उपन्यासों में चित्रित पात्र

न तो किसी कल्पना जगत के हैं और न ही कोई 'सुपर हीरो' हैं। रचयिताओं ने जिन पात्रों को अपने समाज में देखा था जिनके साथ उनका उठना-बैठना था उन्हें ही नायक-नायिका अथवा सहायक पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया। उपन्यासकारों ने किसानों की जिंदगी का गहरा साक्षात्कार किया था। जमींदारों, रायबहादुरों, साहूकारों तथा सरकारी अधिकारियों से प्रपीड़ित दीन-हीन किसानों एवं उपेक्षितों के अटूट संघर्ष, उनकी अदम्य जिजीविषा आदि के रेशे रेशे से परिचित थे। सती, पतिव्रता हो अथवा वेश्या, उदार पात्र हो अथवा अत्याचारी शोषक, खलनायक, जमींदार हो या चौकीदार, तेली हो या नाई, जुलाहा हो या ग्वाला—सभी प्रकार के पात्र स्रष्टा की निष्णात सृजनशक्ति से जीवंत हो उठे हैं। प्रेमचंद ने इंद्रनाथ मदान को एक पत्र में लिखा भी था, **''मेरे अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन से लिये गये हैं, जो उन्हें काफी अच्छी तरह पर्दे में ढक दिया गया है। जब तक किसी चरित्र का कुछ आधार वास्तविकता में न हो तब तक वह छाया सा अनिश्चित सा रहता है और उसमें विश्वास पैदा करने की ताकत नहीं आती।''**[5] ये पात्र आदर्श समाज एवं अमृतमय जीवन की खोज में रत हैं। 'छ माण आठ गुंठ' का भगिया मुकुंदा, 'मामुं' का राधो, करूण बारिक, 'प्रायश्चित' का सइता, 'कर्मभूमि' का अमरकांत, 'रंगभूमि' का सूरदास, 'गोदान' का होरी आदि ऐसे पात्र हैं। दोनों रचनाकारों ने विश्वसनीय पात्रों को ही अवतरित किया है। **गोपाल राय** का कथन द्रष्टव्य है : ''होरी के रूप में उन्होंने कम से कम एक पात्र ऐसा गढ़ा है जो खांटी यथार्थ है। होरी के अतिरिक्त प्रेमचंद के उपन्यासों में दर्जनों ऐसे पात्र हैं जो पाठक को चकित-विस्मित और आकृष्ट करते हैं। वस्तुत: प्रेमचंद हिंदी के पहले उपन्यासकार हैं जिसने विश्वसनीय और पाठकों को आत्मीय लगने वाले पात्रों का संसार खड़ा कर दिया।''[6]

'छ माण आठ गुंठ' का मंगराज, 'प्रेमचंद' का ज्ञानशंकर एवं 'गोदान' का झिंगुरी सिंह **दुष्ट नायक हैं**। इनमें छल-कपट और ईर्ष्या-लोभ का बहुत बड़ा स्थान है। मनुष्य की पतित वृत्तियों के सहारे वे निरीह किसानों पर अत्याचार करते हैं। फकीरमोहन ने मंगराज का परिचय निम्नतया प्रदान किया है : ''रामचंद्र मंगराज एक देहाती जमींदार है, महाराज भी है। नगद रुपये के कारोबार से धान की महाजनी अधिक चलती है। आसपास की चारों दिशाओं में किसी दूसरे का कारोबार नहीं चलता।''[7] मंगराज शेख दिलदार मियां का एस्टेट एजेंट है।[8] झिंगुरी सिंह के बारे में प्रेमचंद कहते हैं : 'सबसे बड़े महाजन थे झिंगुर सिंह। वह शहर के एक बड़े महाजन के एजेंट थे, जो आसपास के देहातों में घूम घूम कर लेन-देन करते थे।'[9] उपन्यासकारों ने इन एस्टेट मालिकों से साम्राज्यवादी ताकतों की ओर इशारा किया है। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का कथन उल्लेखनीय है : ''संसार का शासनसूत्र बैंकरों के हाथ में है। सबसे

बड़े बैंकर इंग्लैंड के शहरों में हैं, छोटे बैंकर भारत के शहरों में है, इनके एजेंट देहात में फैले हुए हैं।''[10]

धनिया एवं शारिया के चरित्रों में भी अद्‌भुत समानताएं हैं। दोनों का चरित्र अत्यंत दृढ़ है। दोनों विपरीत परिस्थितियों में हार नहीं मानतीं। उन्हीं परिस्थितियों के सामने अपने घुटने नहीं टेकतीं। उनसे जूझती हैं। अन्याय का विरोध करने में पीछे नहीं हटतीं। दोनों का दांपत्य जीवन मधुरमय है। होरी को धनिया कभी-कभार डांट भी देती है परंतु शारिया अपने पति को कभी डांटती-फटकारती नजर नहीं आती। बुनकर दंपति शारिया और भगिया के सुखमय जीवन का चित्रण फकीरमोहन ने निम्नतया प्रस्तुत किया है, ''बुनकर दंपति को किसी भी चीज की तकलीफ नहीं थी। पवित्र दांपत्य जीवन, विशुद्ध प्रेम, अखंड संतोष, सुंदर सुडौल सहज तथा सरल धर्मप्राण के साथ सारे स्वर्गीय भाव इनके पास मौजूद थे।''[11]

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद के उपन्यासों में विभिन्न वर्गों के मुसलमान पात्रों का चित्रण मिलता है। 'लछमा' का अलीवर्दी, 'छ माण आठ गुंठ' के शेख करामात अली, शेख दिलदार मियां, आखुनजी, हनुमियां, ज्यादां शेख फजू आदि पात्र समाज के विभिन्न वर्गों से आगत हैं। प्रेमचंद के मुसलमान पात्र भी ग्रामीण किसान से ले कर उच्चपदस्थ अधिकारियों तक व्याप्त हैं। मौलवियों की स्वार्थपरता एवं पंडितों की लालच वृत्ति पर समान रूप से व्यंग्य किया गया है। अमरकांत-सलीम की मित्रता, पारस्परिक सद्‌भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति से रचनाकार का उद्‌देश्य स्पष्टतया ज्ञात होता है। 'कर्मभूमि' में सलीम कहता है, ''मैं प्रेम के सामने मजहब की हकीकत नहीं समझता।''[12] सलीम के मार्ग पर चलने वाले रंगभूमि का ताहिर अली, 'गोदान' का मिर्जा साहब, कर्मभूमि के मि. गजनवी आदि महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। 'लछमा' के उत्तरार्ध में लूट-खसोट करने वाले हिंदू बागियों पर मुसलमान नवाब अलीवर्दी खां की विजय दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि इन रचनाकारों के उपन्यासों में हिंदू और मुसलमान महज पात्रों की तरह आते हैं। सांप्रदायिकता, विद्वेष एवं वैमनस्य का कोई भाव तक छू नहीं पाता। कथाकारों ने संकटग्रस्त मुसलमानों का अद्‌भुत सहानुभूति के साथ चित्रण किया है।

शहर तथा नगरों में बैठे जो बुद्धिदीप्त 'आधुनिक दल' गांवों में वैज्ञानिक विचारधारा अवतरित करना चाहता है, कुसंस्कारों से मुक्त करना चाहता है वह कल्पनाप्रसूत एवं अव्यावहारिक है। इन 'आधुनिकों' की आंखों पर आधुनिकता की काली पट्‌टी बंधी है, जिससे वे यथार्थ से अपरिचित रह जाते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण से अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की नींव से कटते जा रहे हैं। 'प्रायश्चित' उपन्यास में सदानंद अंधी आधुनिकता का प्रतीक है। गोविंदचंद्र सामंतवादी परंपरा का प्रतीक है। संकर्षण महान्ति अवसरवादी हैं। इन्हीं अशांत क्षुधित आत्माओं की शांति एवं स्वस्ति के लिए फकीरमोहन

ने प्रायश्चित करवाया है। फकीरमोहन ने शहर एवं गांव के संघर्ष का मर्मस्पर्शी चित्रण 'मामुं' में प्रस्तुत किया है। 'गोदान' में भी ग्रामीण एवं नागरिक कथानक में पारस्परिक असंबद्धता का चित्रण मिलता है। इस संदर्भ में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का कहना है : ''गोदान' के नागरिक एवं ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खंडों में रहने 'वाले' दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक दूसरे के जीवन क्रम में बहुत कम संपर्क है।'[13] नंददुलारे वाजपेयी के इस मत की काफी आलोचनाएं हुई हैं। नगर एवं ग्राम की कथा के अविच्छिन्न सूत्र को तर्कों, प्रमाणों एवं उद्धरणों से पुष्ट किया भी जा चुका है।[14]

फकीरमोहन के उपन्यासों के अंत में 'कर्मफल' का प्रभाव पाया जाता है। उपन्यासकार ने 'नेच्यूरल जस्टिस' के प्रति बड़ी आस्था दिखायी है। महा अत्याचारी मंगराज की छह बीघा जमीन प्राप्त कर लेने से हंसी-खुशी जीवन व्यतीत नहीं करता है। उसे इस लोक में ही 'कर्मफल' की प्राप्ति हो जाती है। उपन्यासकार को अगले जन्म में विश्वास नहीं है। अन्यायपूर्ण ढंग से हथियाये गये उसका सारा वैभव समूल विनष्ट हो जाता है। आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी प्रेमचंद के 'गोदान' में होरी की मृत्यु तो होती है परंतु वह अपनी जिजीविषा के कारण अमर हो जाता है। धनिया के व्यंग्यवाण हृदय को कचोटते हैं : ''महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।''[15] इस कथन के माध्यम से जहां एक ओर धार्मिक पाखंड की पोल-खोल होती है, वहीं दूसरी ओर सामंती व्यवस्था के चरमतम शोषण की एक झलक भी दिखायी पड़ती है। यह बताया गया है कि सामंती व्यवस्था का दानव इस लोक से उस लोक तक अपना दमन चक्र बनाये रखता है।

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद ने चार्ल्स डिकेन्स की तरह न केवल सामाजिक दोष-दुर्बलताओं का उद्घाटन किया है बल्कि समाजवादी साहित्यकार तोलस्तॉय की भांति समाधान के उपाय भी सुझाये हैं। 'मामुं' उपन्यास का प्रताप उदित मल्ल एक संवेदनशील, दयालु, परोपकारी, ज्ञानी जमींदार है। प्रजा का पालन और उनके दुखों को दूर करने के विचारों के माध्यम से फकीरमोहन की संवेदनशील दृष्टि का परिचय मिलता है। सामाजिक परिवर्तन के लिए नगर सभ्यता की नींव डाली गयी। प्रजा नगराभिमुखी हुई। फकीरमोहन ने उपन्यास के बारहवें परिच्छेद में बताया है कि जाति की समृद्धि एवं विकास के लिए कृषि पर आधारित सभ्यता को सूचक माना जाता है। उन्होंने नगराभिमुखी प्रवृत्ति से इसके समाधान को नकारा है। उड़ीसा की जनता की दीन-हीन दशा का चित्रण करते फकीरमोहन मौन नहीं रह जाते हैं, उसका कारण भी ढूंढ़ते हैं कि आखिर अनेक जनता के घर दो जून चूल्हा क्यों नहीं जलता है? जनता की अशिक्षा, वैज्ञानिक प्रणाली में कृषि से अनभिज्ञता, शिक्षित जनों का कृषि आधारित सभ्यता के प्रति उदासीनता आदि के चलते पल्ली सभ्यता के ध्वस्त-विध्वस्त होने की बात कही गयी

है। इस संदर्भ में 'पूस की रात' कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। हल्कू कहता है : "पूस की ठंडी रात में यहां सोना तो नहीं पड़ेगा।" शहर की चकाचौंध से आकृष्ट हो कर यदि किसान अपनी खेती छोड़ दे तो भारतीय आर्थिक स्थिति का डांवाडोल होना स्वाभाविक था जिसके प्रति लेखक ने अपनी चिंता जतायी है। 'रंगभूमि' का सूरदास दस बीघा जमीन का मालिक था। उसकी जमीन सड़क किनारे थी। यह जमीन गायों की चारागाह थी। जॉन सेवक उस जमीन को हथियाने के लिए तमाम हथकंडे अपनाता है। प्रलोभन देता है। सूरदास कहता है : "मेरे जीते-जी तो जमीन न मिलेगी। हां, मर जाऊं तो भले ही मिल जाये।" यह दूसरी बात है कि वह साम्राज्यवादी ताकतों से अपनी जमीन को बचा नहीं पाता है। म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष महेंद्र प्रताप के सहयोग से जॉनसेवक उस जमीन पर कारखाना बैठा लेते हैं। रामचंद्र मंगराज की लोभदृष्टि से भगिया अपनी छह बीघा जमीन कहां बचा पाता है? ऐसा होने पर भी सूरदास और भगिया का संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता है। परंतु इससे उन्हें नया बल मिलता है। उनका आत्मविश्वास अधिक मजबूत होता है। सच्चे खिलाड़ी की तरह वे डंटे रहते हैं। "सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं पर मैदान पर डटे रहते हैं, उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते। खेल में रोना कैसा? खेल हंसने के लिए है, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नहीं।"[16] यह खेल अन्याय और अत्याचार का विरोध करना, प्रतिवाद करने की सामर्थ्य जुटा कर साम्राज्यवाद को चुनौती देना है।

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद की कथा से कहीं अधिक उनके चरित्र अपील करते हैं। 'छ: माण आठ गुंठ' की उपजाऊ जमीन की कथा से उसके पात्रों की चारित्रिक विशेषताएं कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नटवर दास, राजीवलोचन, रामचंद्र मंगराज, चंपा, गोविंदचंद्र, सदानंद, चांदमणि, इंदुमती आदि पात्रों के माध्यम से फकीरमोहन की रचनादृष्टि का परिचय मिलता है। ये सभी पात्र वर्गीय हैं। समाज के प्रत्येक स्तर से इन पात्रों का कलात्मक सृजन हुआ है। उड़िया के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. कुंजबिहारी दास के शब्दों में कहा जा सकता है, "जब हम उनके उपन्यास पढ़ते हैं तो जीवंत मनुष्य का स्नेहिल स्पर्श महसूस करते हैं। सुखी मनुष्य, शोषक-शोषित, पीड़ित, वीर, कायर, उदार एवं संकीर्ण हृदय वाले मनुष्य का रूप रंग हमें अहसास होता है। ये पात्र जीवितों से भी और अधिक प्राणस्पर्शी प्रतीत होते हैं।"[17] प्रेमचंद ने अपने पात्रों के प्रति पूरी तरह से संवेदनशीलता दिखायी है। उनके पात्रों की मेहनत, उनकी ईमानदारी, उनकी जिजीविषा के साथ उनकी रूढ़िवादिता, अवसरवादिता, संस्कारग्रस्तता, कमजोरियां भी प्रकट होती हैं। सुमन, पद्मसिंह, सूरदास, रमानाथ, जालपा, अमरकांत, सलीम, सुखदा, मैना, सकीना, होरी, गोबर, मालती, मेहता, सिलिया, धनिया, पुनिया, झुनिया

आदि सैकड़ों पात्र वर्गीय (टाइप) हैं। उनके किसान पात्र या अन्य पात्र, वे अपने वर्ग पर टाइप बन सके हैं।[18]

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशक तक जीवन में एक द्रुत परिवर्तन लक्षित होता है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न होने के साथ साथ शहरोन्मुखी हो कर निचले तबके के कर्मचारी बनने लगे। 'मामुं' उपन्यास में पतनशील सामंत वर्ग सबसे पहले तथाकथित आधुनिकता के मोह से आकर्षित हो कर अंग्रेजी शिक्षा की ओर उन्मुख होता है। संपूर्ण शिक्षा नहीं मिली। मदिरापान करके 'मॉडर्न' कहलाने का ढोंग रचता रहा। वेश्यालय पहुंचा। अल्पविद्या भयंकरी सिद्ध हुई। सामाजिक अधोगति की शुरुआत हो गयी। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नाजर पिता के प्रति वात्सल्यपूर्ण व्यवहार एवं हिताहित ज्ञानविहीन हो कर कुटिलता, स्वार्थपरता, आदि का प्रयोग करने लगता है। टूटती आस्था, संबंधहीनता एवं छीजती संवेदनशीलता का यथार्थ चित्रण भी 'मामुं' में उपलब्ध है। परंतु इसका कदापि यह आशय नहीं है कि फकीरमोहन पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी थे। अशिक्षा, कुसंस्कारों से ग्रस्त एवं सामाजिक व्याधियों से पीड़ित मनुष्य की तीव्र आलोचना फकीरमोहन ने 'रेवती' (1998) में की है। 'छः माण आठ गुंठ' में भी कुसंस्कारों, अंधविश्वासों, विकारों, अंधानुकरणों से देश की मुक्ति एवं शिक्षा तथा सभ्यता के प्रकाश से अज्ञानरूपी अंधकार का विनाश करना कथाकार की अभिलाषा थी। उपन्यासकार ने कहा है : "अनेक जलकाक उस जोहड़ पर उतरते हुए जल्दी ही देखोगे। हो सकता है वह सारी मछलियां ही खा जायें। अगर तुम्हें अपने अस्तित्व की चिंता है तो तुम्हें उन जलकाकों की तरह आचरण करना होगा। तुम्हें यह बात सीखनी होगी कि कैसे समुद्र में तैरा जाता है।"[19] इस दृष्टि से प्रेमचंद का कथा साहित्य भी वैभवसंपन्न है। जाति-पांति, छुआछूत, ऊंच-नीच, धनी-दरिद्र के भेद को मिटा कर एक स्वस्थ समाज की स्थापना करना उनका उद्देश्य था। व्यक्ति अपने लिये ही जीना छोड़ कर दूसरों के लिए जीवन धारण करे। प्रो. शंभुनाथ की मान्यता है : "साम्राज्यवाद, वर्ग विषमता, जातिवाद, सांप्रदायिकता एवं स्त्री पर अत्याचार के खिलाफ कथा साहित्य की रचना करने वाले प्रेमचंद नये सिरे से दुनिया के लोगों को आकर्षित कर रहे हैं– टेक्नोलॉजी से व्यापक विस्तार के आधुनिक युग में भी कर रहे हैं।"[20]

फकीरमोहन ने अपने उपन्यासों में धर्म का उदात्त रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने धर्म के ठेकेदारों एवं ब्राह्मणों की जम कर आलोचना भी की है। उन्होंनें व्यंग्यपूर्ण शैली में कहा है : "मुट्ठी भर चावल के लिए कुत्तों की तरह ब्राह्मण परस्पर झगड़ रहे हैं...क्योंकि प्रेतात्मा के लिए अर्पित भीगे चावल हेतु ब्राह्मणों की तकरार है तो जूठे भात के लिए कुत्तों की छीना-झपटी।"[21] इतना कह कर फकीरमोहन शांत नहीं रहते। वे आगे कहते हैं : "जिस प्रकार आकाश में चीलों के उड़ने से कहीं मृत पशु का अनुमान

लगाया जाता है उसी तरह दिन के प्रथम प्रहर में ब्राह्मणों के तिलक-टीका धारण कर झुंड में निकलते किसी गांव में किसी की मृत्यु का अनुमान किया जाता है।''[22] सवर्णों के नीची जाति के लोगों पर अत्याचार को भी फकीरमोहन ने सामाजिक कलंक के रूप में चित्रित किया है। प्रेमचंद के 'कर्मभूमि', 'गोदान' में ऐसे प्रसंग हैं। 'ठाकुर का कुआं' में निस्सहायों के प्रति संवेदना दिखायी गयी है। पुराने आडंबर, दकियानूसी विचार एवं जर्जर मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह ही आवाज मुखर हुई है। पोंगापंथियों की जम कर खिल्ली उड़ायी गयी है। 'प्रायश्चित' में पतनशील सामंतवाद के झूठे दंभ, अहं एवं संकीर्ण जातिभेद का आम जनता के सामने पर्दाफाश किया गया है। तथाकथित बुद्धिजीवियों के आचरण के निहित खोखलेपन का यथार्थ चित्रण किया गया है।

'छ माण आठ गुंठ' एवं 'मामुं' में पूंजी-सर्वहारा अथवा महाजन-किसान की संघर्ष गाथा है। प्रायश्चित में दो संस्कारों अथवा मतादर्शों की टकराहट है। जात्याभिमान, बुद्धिदीप्त मनोवृत्ति, आधुनिक शिक्षा के प्रति प्रबल आग्रह एवं विभिन्न समस्याओं से परिपुष्ट यह उपन्यास युगीन संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है। समाज में अंतर्निहित कुसंस्कारों के साथ साथ पाश्चात्य सभ्यता के स्रोत में बहते आये कुसंस्कारों को दूर कर समाज को स्वस्थ तथा विकसित रूप प्रदान करना उपन्यासकार का उद्देश्य रहा है। इस दृष्टि से प्रेमचंद का कथा साहित्य भी समुन्नत है। दोनों रचनाकारों ने समाज एवं देश को पराधीनता की ज्वाला, धार्मिक कुसंस्कार, सतत निर्यातना, अशिक्षा आदि से मुक्त करना चाहा, जनता को जाग्रत किया। जर्जर एवं पंगु समाज में फैले सामाजिक विधि-विधानों की तीव्र आलोचना की गयी है। फकीरमोहन ने उड़ीसा के जातीय जीवन की कथा कही है। परंतु यह कथा केवल उड़ीसा की कथा बन कर नहीं रह जाती है। यह भारत के राष्ट्रीय जीवन के वर्तमान और भविष्य को भी अपनी दृष्टि में सन्निवेशित करता है। उनकी कालजयी रचनाएं उड़ीसा के जातीय जीवन के बहाने राष्ट्र को वाणी प्रदान करती है तो प्रेमचंद की शाश्वत कृतियां राष्ट्रीय चेतना एवं राजनीतिक सूझ-बूझ का दस्तावेज हैं।

फकीरमोहन एवं प्रेमचंद की रचनाओं में कर्म का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। होरी, बलराज, गोबर आदि पात्रों की तरह भगिया भी कम कर्मठ नहीं है। फकीरमोहन ने 'लछमा' में कहा है, ''निष्कर्मा आदमी को शैतान अपने काम में लगाता है।''[23] दोनों की रचनाओं में अंतर्विरोध के रूप में भाग्य की भविष्यता पर भी बल दिया गया है। यह अंतर्विरोध उनकी कमजोरी नहीं, शक्ति है।

गरीब किसान, मजदूर आदि के प्रति सहानुभूति, शोषकों तथा अत्याचारियों पर कुठाराघात, सामंती सभ्यता का नग्न दृश्य, ढोंगी-पाखंडियों पर व्यंग्य, सांस्कृतिक चेतना का प्रचार-प्रसार, सर्वधर्म समन्वयकारी भावना, राष्ट्रीय चेतना एवं वसुधैव

कुटुंबकम की भावना के प्रचार-प्रसार हेतु दोनों उपन्यासकारों ने अपनी कलाकृतियों से भारतीय जन-जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। फकीरमोहन और प्रेमचंद की रचनाएं युगों तक प्रकाश स्तंभ बनी रहेंगी और भारतीयों को युगों तक प्रकाश देती रहेंगी, मार्ग दर्शन करती रहेंगी। इनकी रचनाएं पढ़ कर भारतीयों को अपनी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति पर गर्व होता है। इसलिए दोनों अमर कथाकारों को युगप्रवर्तक कालजयी स्रष्टा कहा जाता है।

संदर्भ

1. आत्मजीवन चरित, कटक स्टुडेंट्स स्टोर, 1957, पृ. 15
2. मायाधर मानसिंह, फकीरमोहन सेनापति, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1979, पृ. 69
3. फकीरमोहन सेनापति, छ माण आठ गुंठ, कटक स्टुडेंट्स स्टोर, कटक, 2002, पृ. 134
4. दामियां ग्रां, रियलिज्म, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1959, पृ. 15
5. प्रेमचंद, चिट्ठी-पत्री, भाग-2, 'इंद्रनाथ मदान के नाम पत्र', 1964, पृ. 235
6. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ. 140
7. छ माण आठ गुंठ, कटक स्टुडेंट्स स्टोर, कटक, 2002, पृ. 1
8. प्रेमचंद, गोदान, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1961, पृ. 22
9. प्रेमचंद, गोदान, पृ. 103, यथोपरि
10. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, 2004, पृ. 277
11. छ माण आठ गुंठ, दसवां परिच्छेद, पृ. 43
12. प्रेमचंद, कर्मभूमि, पृ. 98
13. नंददुलारे वाजपेयी, प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया, दिल्ली, 1979, पृ. 63
14. शंभुनाथ, प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1988, पृ. 207
15. प्रेमचंद, गोदान, हिंद पाकेट बुक्स, 1992, पृ. 351
16. प्रेमचंद, रंगभूमि, पृ. 129
17. समालोचना, फ्रेंड्स बुक स्टोर, कटक, 1991, पृ. 45
18. शिवकुमार मिश्र, कहानीकार प्रेमचंद रचनादृष्टि और रचना शिल्प, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ. 33
19. छ माण आठ गुंठ, बारहवां परिच्छेद
20. शंभुनाथ, प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन, पृ. 240
21. छ माण आठ गुंठ, नौवां परिच्छेद, पृ. 31
22. यथोपरि
23. फकीरमोहन सेनापति, लछमा, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, कटक, पृ. 39

6

छायावाद एवं सबुजयुगीन कविता तुलनात्मक अध्ययन

सन् 1900 से 1918 तक की अवधि को हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग एवं उड़िया साहित्य में सत्यवादी युग कहा जाता है। स्वदेश प्रेम, जातीयता, मातृभाषा प्रेम, कुसंस्कारों से मुक्ति कामना,'आत्म त्याग, नारी स्वातंत्र्य, मानव सेवा आदि प्रवृत्तियों के आधार पर हिंदी तथा उड़िया रचनाकारों ने साहित्य को संपन्न किया। इस क्षेत्र में महावीर प्रसाद द्विवेदी और उड़िया में गोपबंधु दास की अविस्मरणीय भूमिका रही। 'सरस्वती' एवं 'समाज' के माध्यम से उक्त युग प्रवर्तकों ने साहित्य एवं समाज को नयी दिशा प्रदान करने का प्रयत्न किया। इस सुधार काल के पश्चात भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का उदय हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वच्छंदतावाद को पश्चिम के रोमांटिसिज़्म का पर्याय मानते हुए पं. श्रीधर पाठक को इस धारा का प्रवर्तक स्वीकारा है। इसी प्रकार उड़िया में राधानाथ राय को प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि माना जाता है।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भारतीय काव्य जगत को स्वच्छंदतावाद ने बहुत अधिक प्रभावित किया। सन् 1913 में रवींद्रनाथ को 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। फलस्वरूप, सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय साहित्य रवींद्र के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ। इस संदर्भ में छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की मान्यता है : ''कवींद्र रवींद्र भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत बन कर आये। उन्होंने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावों का वैभव, नवीन कल्पना का सौंदर्य, नवीन छंदों की स्वर झंकृति प्रदान कर उसे विश्व प्रेम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया।''[1]

बंगला में सत्येंद्रनाथ दत्त, कुमुदरंजन मल्लिक, अक्षय बराल, मोहितलाल, कालिदास राय ने 'सुबुज पत्र' तथा 'कल्लोल' के माध्यम से 'कल्लोल युग' का प्रवर्तन किया। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत—छायावाद

के चतुष्टयी ने 'छायावाद की अवतारणा की। असमिया में लक्ष्मीकांत बेजवरुआ, कमलाकांत भट्टाचार्य, चंद्रकुमार अग्रवाल, रघुनाथ चौधरी की रचनाओं से 'जोनाकी युग' विकसित हुआ। उड़िया साहित्य में अन्नदाशंकर राय, वैकुंठनाथ पट्टनायक, कालिंदीचरण पाणिग्राही, शरत्चंद्र मुखर्जी ने 'सबुज युग' की स्थापना की।

[1]

छायावाद एवं सबुज युग के प्रारंभिक काल में रचनाकारों को व्यंग्य का शिकार होना पड़ा था। उन पर कई गलत आरोप लगाये गये। कभी उन्हें 'पलायनवादी' कहा गया तो कभी उनकी रचनाओं में दुरूहता का आरोप हुआ। परिणामस्वरूप, छायावादी एवं सबुजयुगीन उन्नायकों को नयी काव्यधारा का विवेचन करना पड़ा। प्रसाद जी ने छायावाद की ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य प्रकृति विधान, उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विकृति का समाहार माना है। उपर्युक्त सभी तत्त्व सबुजयुगीन कविताओं में भी विद्यमान हैं। उड़िया साहित्य में सबुज युग के मूल में 1914 में प्रकाशित 'सबुजपत्र' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। श्री प्रमथनाथ चौधरी ने उक्त पत्रिका के लक्ष्य एवं उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था : ''साहित्य मानव जीवन का मुख्य सहायक है। क्योंकि मानव मन को गहरी नींद से जगाना, उसे जागरूक करना उसका कर्त्तव्य है...आत्मप्रवंचना जैसी कोई दूसरी वस्तु नहीं है। साहित्य किसी जाति की रोजी-रोटी नहीं जुगाड़ सकता परंतु उसे आत्महत्या से रक्षा की जा सकती है।''[2] सबुजयुगीन कवियों का उद्देश्य भी उपर्युक्त कथनानुसार था। उन्होंने समाज से जुड़ कर, मनुष्य को जागरूक बनाना चाहा। समाज में 'मानसिक यौवन' को प्रतिष्ठित करना चाहा।

विश्वकवि रवींद्रनाथ की 'सबुजेर अभियान' शीर्षक कविता ने साहित्य अनुरागियों का ध्यानाकर्षण किया। उन्होंने युवकों को संबोधित करते हुए कहा—

''ओरे नवीन, ओरे आमार काचा, ओरे सबुज,
आधमरादेर घा मेरे तुइ बांचा।''

अर्धमृतकों को आघात कर जीवनदान करना सबुज गोष्ठियों का एक उद्देश्य था।

'सबुज' शब्द में एक गंभीर दर्शन निहित है। युवकों के भावावेग एवं आस्था का उत्ताप एक नया जीवनादर्श प्रतिष्ठित करने में समर्थ हैं। आसपास के जीवन और समाज में जो कुत्सा, निष्ठुरता, अर्थहीनता और जड़ता है, उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा होगा। धर्म, समाज एवं साहित्य में निहित अंधविश्वास, कुसंस्कारादि दूर होंगे। सीमा एवं

असमी, पूर्व तथा पश्चिम, स्मृति और आशा में मध्यस्थता कराने वाला शब्द है सबुज। यद्यपि सबुजयुगीन कवि कालिंदीचरण ने 'सबुज पत्र' के साथ सबुज गोष्ठी के संबंध को अस्वीकार किया है[3] तथापि पड़ोसी प्रांत के साहित्य के प्रभाव को अस्वीकारा नहीं जा सकता। स्वयं अन्नदाशंकर राय ने कहा भी है : ''रवींद्रनाथ की कविताएं मेरा मूलमंत्र रही हैं।''[4] उन्होंने सबुजयुगीन चेतना को स्पष्ट करते हुए कहा है—''मध्यकाल को आधुनिक युग में बदलने, अठारहवीं शताब्दी को बीसवीं शताब्दी में परिवर्तित करने की हमारी आकांक्षा थी। देश की जनता की मानसिकता बदलनी होगी। जीवन आदर्श को बदलना होगा। लोग साहस के साथ सोचेंगे, विचार कर सकेंगे और जीवन धारण करेंगे। पारंपरिक जीवन शैली त्याग कर नयी राह पर चलेंगे।'' आगे चल कर कालिंदीचरण ने कहा : ''उड़िया साहित्य में 'सबुज' युग ने ही नवीन युग का, आगामी युग का विजय ध्वज फहराया है।'' अर्थात् 'नयी राह', 'नवीन युग' आदि से स्पष्ट है कि पारंपरिक विचारधारा को संस्कारग्रस्तता से मुक्त करने का संकल्प किया गया। कहीं छंदों से मुक्ति है तो कहीं नये छंदों का प्रयोग। किसी भी प्रकार का बंधन इन्हें मान्य नहीं था। जाति तथा देश की सीमा से परे कवियों ने अपनी विश्व दृष्टि का परिचय दिया है। केवल भारत की मुक्ति कामना नहीं, सभी पराधीन राष्ट्रों की मुक्ति के लिए, बेचैनी व्यक्त है। प्रसाद का 'कामायनी', निराला की 'वर दे वीणावादिनी' आदि इसके उदाहरण हैं तो उड़िया कवि की भी उद्घोषणा है :

''दुनिया की नरनारी
सुनो अग्निगर्भ ध्वनि मेरी।''

[2]

सौंदर्यानुभूति छायावाद तथा सबुज युग की मुख्य प्रवृत्ति है। इन काव्यांदोलनों में व्यक्त सौंदर्यानुभूति पूर्ववर्ती रूप से सर्वथा भिन्न है। प्रकृति सौंदर्य के माध्यम से कवियों ने मनुष्य के आंतरिक सौंदर्य का उद्घाटन किया है। प्रकृति अब जड़ नहीं रही, चेतन बनी। प्रकृति के विविध रंग-रूपों में कवियों ने अपनी अंतरात्मा का संधान किया। पंत ने प्रकृति को नारी रूप में तथा कालिंदीचरण ने निशा को 'चक्रवाक' कविता में चित्रित किया है। प्रसाद के 'कामायनी' में ऊषा का मानवीकरण हुआ है तो 'लहर' की 'बीती विभावरी, जाग री' में ऊषा को नागरी रूपसी के रूप में चित्रित किया गया है :

''अंबर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।''

कालिंदीचरण की 'मधु विवाह', 'फगुणवंशी', 'वर्षा ऋतु', 'शरत संध्या', 'पौष संध्या' आदि कविताओं में प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है। यहां भी प्रकृति चेतना से मानव चेतना अलग नहीं हुई है, दोनों एकाकार हो गयी हैं। प्रकृति और प्रियतमा में एकात्मकता पायी जाती है :

''विवाह का शंख बजे मंद रव से
पके धान के विपुल गंध से
सरसों के फूल के मोहक छंद से
भरा है गगन छलक उठा भुवन
सिहरनमय है आज पवन।''[4]

निराला की एक कविता है संध्या सुंदरी। इस कविता में संध्या को मेघमय आकाश से उतरती हुई परी के रूप में चित्रित किया है :

''दिवावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।''

कालिंदीचरण ने भी 'लोहित व्यथा' कविता में सुंदरी के रूप में संध्या का मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया है :

''विराजमान है संध्या-सुंदरी
बादल के रथ पर
उन्मुख हो वन-पथ की ओर
सजल नयनों से।''

छायावादी एवं सबुजयुगीन कविताओं में प्रकृति प्रेम, नारी प्रेम, मानव प्रेम, अज्ञात चिरंतन प्रिय के प्रति प्रेम भावना का विविध रूपों में वर्णन मिलता है। पंत के 'पल्लव', 'गुंजन' आदि में प्रकृति के प्रति कवि हृदय का उत्कृष्ट प्रेम अभिव्यक्त है। कवि पंत के लिए प्रकृति 'मां, सहचरी, प्राण' है। प्रकृति के संबंध में कवि पंत का मोह निम्नतया व्यक्त है :

''छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल-जाल में
कैसे उलझा दूं लोचन?''

अन्नदाशंकर ने भी अपनी कविताओं में जीवन की अप्राप्ति से मुक्ति पाने के लिए प्रकृति की शीतल क्रोड़ में शरण ली है। प्रकृति उन्हें संसार के दुख, व्यथा, पीड़ा आदि को भुलाने के लिए सहायक बन कर आती है। शारदीय प्रभात, सूर्यस्नात तृणगुल्म, मधुर समीरण, शेफाली का सुवास एवं पक्षियों का कलरव उनके दुख लाघव ही नहीं दूर कर देते हैं :

"आज इस शुभ शारदीय प्रात श्यामल तृण सूर्य स्नात
बहता है समीरण मधुर
शेफाली का सुवास विहग संगीत से बिसरा दिया अचंभे में
जीवन व्यथा विधुर।"[5]

जहां छायावादी काव्य को पलायनवादी मनोवृत्ति का परिचायक माना जाता था और बहुधा :

"ले चल वहाँ भुलवा दे कर,
मेरे नाविक धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

को उद्धृत करके गलत व्याख्या होती रही और कविता का अंतिम पद भुला दिया जाता रहा :

"श्रम विश्राम क्षितिज वेला से
जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा नयन से
बिखराती हो ज्योति घनी रे।"

उपर्युक्त स्थिति उड़िया के सबुजयुगीन कवियों की कविताओं की भी रही। इस कोलाहलमय पृथ्वी में नित्य नवसुख की आशा कवि के लिए आशा ही बन कर रह जाती है। संसार को कवि 'मरीचिकामय' कहता है। इसलिए अमरावती में नीड़ करने को आह्वान करते हुए कवि अन्नदाशंकर राय ने कहा है :

"चलो प्रिया उस लोक में चलें
मरुभूमि की ज्वाला कौन सहे ?
संसार है मरीचिकामय

सबुजयुगीन कविता यौवन की चेतना से परिपूर्ण है। कवियों ने यौवन की मुग्ध वंदना की है। वैकुंठनाथ की 'नवयौवन' (1923) शीर्षक कविता में यौवन और स्वप्न, कविता एवं फूल, कल्पना तथा फागुन का समावेश है। प्रेम उदात्त है। इसमें देह का महत्त्व नहीं है। वर्षा की बूंदों से कभी कवि का हृदय प्रेम प्लावित होता है तो कभी ध्रुवतारा की ज्योति में प्रियतमा की दृष्टि की खोज करता है। कभी उसकी प्रियतमा के लिए प्रीति की अनंत फल्गुधारा बहती है तो कभी प्रियतमा पल भर के लिए स्वप्न में आ कर अतीत के सारे दुखों को दूर कर देती है। कवि कालिंदीचरण के शब्दों में :

"ध्रुवतारा-सा मुझे कहीं दूर से
अपलक निहारती रहती
वसंत कुसुम के कानन से
स्नेह प्रीति की धारा बहाती।"[9]

छायावादी कवि अपनी अज्ञात, अलौकिक प्रियतमा के प्रति प्रेम निवेदन करते हैं। सबुजयुगीन कवियों की काव्य नायिकाएं कभी प्रियतमा तो कभी अपरिचित और कभी पत्नी के रूप में चित्रित हैं।

छायावादी तथा सबुजयुगीन कविताओं में वेदना भाव की विभिन्न अभिव्यक्तियां पायी जाती हैं। छायावादी कवियों का अपने अपने जीवन दर्शन होने के कारण उनके वेदना भाव की भी भिन्न भिन्न भूमिकाएं थीं। जैसे—प्रसाद जी के काव्य में आनंदवाद की प्रतिष्ठा है तो महादेवी में दुखवाद की। पंत की वेदना में सेवाभाव की प्रधानता है तो निराला की वेदनानुभूति में सामाजिक विषमताओं से उत्पन्न निराशा और दुख का महत्त्व है। इस संदर्भ में सबुजयुगीन कवियों की वेदनानुभूति में अनेक साम्य हैं। इसका कारण यह है कि इन कवियों ने 'नॉन्सेंस क्लॉव' की स्थापना की। अन्नदाशंकर, वैकुंठनाथ, कालिंदीचरण और शरत्चंद्र के संयुक्त तत्त्वावधान में हस्तलिखित पत्रिका 'नॉन्सेंस क्लॉव मैगजीन' निकाली। बाद में इन कवियों के आद्य अक्षरों को मिला कर 'अवकाश' नाम की पत्रिका निकाली जिसके माध्यम से इन कवियों ने अपने संघबद्ध विचारों से पाठकों को अवगत कराया।

कविवर प्रसाद का 'आंसू' स्मृति काव्य है। 'घनीभूत पीड़ा' 'दुर्दिन में आंसू' बन कर बरसती है। विषाद का मूर्तिमंत काव्य है 'आंसू'। कवि के शब्दों में :

"इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अंतस्थल से
तुम खिसक गये धीरे से
रोते अब प्राण विकल से।"[10]

क्षणिक संयोग के बाद 'चिर वियोग' ही शेष रह गया। कवि अन्नदाशंकर भी इस वेदना से व्यथित हो अंतस्थल में उसे संजोये रखते हैं :

''जग में खोता नहीं कुछ खोता है जीवन में
बाहर वेदना नहीं होती है अंतस्तल में।''

वेदना की कवयित्री महादेवी के 'नीहार' की प्रथम कविता 'निशा की धो देता राकेश' में वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति है। कवयित्री का संवेदनशील हृदय वेदना के माध्यम से संपूर्ण संसार को एक सूत्र में बांधे रखने का संकल्प करता है। इस वेदनानुभूति में न तो निराशा का अंधकार है और न ही भौतिकता का मटमैलापन :

''प्रिय! जिसने दुख पाला हो!
वर दो यह मेरा आँसू
उसके उर की माला हो
मैं दुख से शृंगार करूँगी।''

कालिंदीचरण को आलोकित आकाश दुख पहुंचाता है। विरह की स्मृतियों को जगा कर हृदय को हाहाकारमय कर देता है। सांसारिक सौंदर्य और आनंद कवि को छू तक नहीं पाता। उनके हृदय की तीव्र पीड़ा से उत्पन्न होता है :

''यह प्रकाश यह आकाश
पहुँचाते हृदय में त्रास
दूर की स्मृति ले आते विरह झंकार
प्राणों में मेरे भर देते महा हाहाकार
घुप्प अँधेरे में अकेले
धो लेता हूँ अश्रुधारा से।'' (विषाद)

अत: वेदना व्यथित कवि संपूर्ण जीवन अंधेरे में बिताने के कारण दु:ख और पीड़ा क संगीत गान करना चाहता है :

''गाता रहूँ मैं सारा जीवन
वेदना के विकल अँधेरे में
सुनाऊँ मैं दु:ख सारे दिन के
बकुल की व्यथित संध्या में।'' (नीरव आह्वा

अर्थात् महादेवी की भांति कवि प्रियतम की प्राप्ति इस पीड़ा के सहारे करना चाहता है

'''पीड़ा में उन्हें ढूँढ़ना और उनमें पीड़ा को ढूँढ़ना।''[11]

कवयित्री कुंतलाकुमारी साबत की भी वेदनानुभूति है :

''संसार-गगन में दु:ख ध्रुवतारा
दु:ख मेरा प्राण-राशि
इस संसार के मरु प्रांत में हूँ मैं
दु:ख तरु तले बैठी।''[12]

अज्ञात, अलौकिक प्रियतम के प्रति प्रेम निवेदन करना और उनकी पदध्वनि सुनना कवींद्र रवींद्र का प्रभाव रहा है। इस रहस्यवादी चिंतन का प्रभाव निराला, बैकुंठनाथ तथा लक्ष्मीकांत की कविताओं में भी पाया जाता है। इस कथन की पुष्टि हेतु कुछ काव्य पंक्तियां उद्धृत हैं :

रवींद्रनाथ : *तोरा शुनिस्नि शुनिस्नि कि तार पायेर ध्वनि*
से जे आसे आसे आसे।

निराला : *तुम अंबर मैं दिग्वसना*
तुम चित्रकार घन पटल श्याम
मैं तैत्तुलिका रचना।
(तुम और मैं)

बैकुंठनाथ : *नि:शब्द शारदीय प्रात में*
अतिथि के चले जाने पर
लौट कर ताका भी नहीं।

और भी : *नंदन सुरभि सेवा, उपवन है कौमुदी प्लावित*
स्पर्श नहीं होता उनका पर हृदय होता है पुलकित। (पांथशाला)

कवि की दृष्टि में जीवन भी एक अतिथिशाला है। यहां मानव वात्सल्य, स्नेह और प्रेम की प्राप्ति से तृप्त होता है। मानव के व्यथामय अंधकारपूर्ण इलाके में स्मृतियां स्निग्ध ज्योत्स्ना के प्लावन सदृश हैं। इसलिए दु:ख से हारना नहीं, टूटना नहीं बल्कि उससे नवनिर्माण की ओर बढ़ना है।

प्रसाद जी की तरह भारत के दिव्य एवं भव्य अतीत का स्मरण कराते हुए बैकुंठनाथ ने भारत तथा उत्कल के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है एवं राष्ट्रप्रेम का परिचय दिया है। भारत के महान ऐतिह्य एवं परंपरा से कवि गौरवान्वित है। भारत की पुण्यमय कल्याणकारी आत्मत्याग मनोवृत्ति के प्रति वह अत्यंत उन्मुख है :

स्वार्थ चिंता सदा अमंगल
आत्मत्याग में है सदा सुख (भारतवर्ष)
कोटि जन्म फल।

देशवासियों के मन में गर्व एवं गौरव की भावना जगाने के लिए प्रसाद जी ने 'चंद्रगुप्त' (1931) नाटक में तक्षशिला की राजकुमारी अलका के माध्यम से उद्‌बुद्ध किया है :

''असंख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह-सी
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी।''

बैकुंठनाथ ने भी उस उद्‌देश्य हेतु धौली, बारबाटी, कलिंग सेना के गौरवमय अध्यायों का चित्रांकन प्रस्तुत किया है :

''जीवित है धौली मूक बारबाटी
श्रीक्षेत्र में फहर रहा ध्वज
कलिंग की सेना शोणित भूमि पर
उपजाता है हरा भरा खेत।'' (पण रक्षा)

देश की कृती संतानों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने 'संत प्रणति' नामक काव्य लिखा। गांधी जी, संत बिनोवा, दीनकृष्ण, आचार्य हरिहर, लक्ष्मी नारायण, राणाप्रताप आदि कविताएं कवि की राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं। इसी संदर्भ में कालिंदीचरण ने भी कस्तूरबा, रवींद्र वंदना, आदि कविताएं लिखी हैं।

छायावादी एवं सबुजयुगीन साहित्य दो महायुद्धों के बीच का साहित्य है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति और दूसरे की प्रस्तुति की अवधि में आलोच्य काव्य का सृजन हुआ। इसलिए उक्त कालावधि के साहित्य को स्वप्न, कल्पना, प्रकृति, वेदना, प्रेम और सौंदर्य तक सीमित करना अनुचित है। इस दौरान मानवतावाद का जयगान भी हुआ है :

''शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।'' (कामायनी : श्रद्धा सर्ग)

पंत ने 'मानव तुम सबसे सुंदरतम' कहा तो निराला ने 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर', 'विधवा', 'बादल राग', 'राजे ने रखवाली की' इत्यादि कविताएं लिख कर अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। ठीक इसी प्रकार अन्नदाशंकर की कविता 'सविता' नवजागरण का प्रतीक है। इस कविता में कवि ने सुंदर समय और समृद्धशाली देश के निर्माण हेतु अमित शक्ति संपन्न तरुणों को आह्वान किया है। कालिंदीचरण ने भी देश की दरिद्रता, सामाजिक वैषम्य, आर्थिक असमानता पर अपनी लेखनी चलायी। उन्होंने भी 'भिक्षुक' शीर्षक कविता में भिक्षुकों के प्रति अपनी संवेदना प्रकट की है। जाति तथा देश के प्रति नवयुवकों को अपने कर्त्तव्य का एहसास कराते हुए कालिंदीचरण ने 'लौट आयेगा भारत' शीर्षक कविता लिखी। 'मने नाहिं' (याद नहीं), 'महाद्वीप', 'छुरीटिए लोड़ा' (चाहिए एक छूरा), 'क्षणिक सत्य' आदि काव्य उनकी आधुनिकता एवं सचेतनशीलता के प्रमाण हैं। उनकी एक चर्चित कविता है 'पुरी मंदिर' (1927)। उक्त कविता में कवि ने काष्ठ पाषाण निर्मित देवता के प्रति अपना प्रणति भाव निवेदित नहीं किया है, बल्कि उन्होंने जीवंत देवताओं के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित किये हैं :

''रक्त माँस के जितने हस्त
निर्मल ये प्रस्तर समस्त
उनके लिए इस पाषाण के निकट
नमस्कार
बार बार।''

कालिंदीचरण ने स्पष्टतया घोषणा भी की है : ''यह धरती सुखमणि है।'' उन्होंने इस कविता में जो भाव व्यक्त किया है, उसकी समानता पंत के युगांत की 'ताज' कविता में ढूंढ़ी जा सकती है :

''प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का।''

छायावादी एवं सबुजयुगीन कविताओं में विचार, कला एवं साहित्यिक दृष्टि में अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। दोनों काव्यांदोलनों का एक ही मूल स्वर है। परवर्ती साहित्य के लिए नवदिगंत उन्मुक्त करने का श्रेय इन्हें प्राप्त है। इनका गौरव अक्षय है। हिंदी एवं उड़िया साहित्य के इतिहास में छायावाद एवं सबुज युग का ऐतिहासिक महत्त्व है।

संदर्भ

1. आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत : गद्यपथ, पृ. 151
2. सबुज पत्र, प्रथम संख्या, वैशाख, पृ. 1321
3. सबुज कविता, दूसरा संस्करण, पृ. 8
4. साहित्य स्मृति, सबुज अक्षर, पृ. 247
5. विनोद बिहारी, मधु विवाह, कालिंदी रचनाचय : प्रथम खंड, न्यू स्टुडेंट्स स्टोर, कटक 2, प्रथम संस्करण, 1971, पृ. 276
6. सृजन स्वप्न, सबुज कविता, पृ. 8
7. सृजन स्वप्न, सबुज कविता, पृ. 14
8. प्रसाद का साहित्य : प्रेम तात्त्विक दृष्टि, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृ. 444
9. लहर, पृ. 60
10. मधु विवाह, पृ. 278
11. जयशंकर प्रसाद, आंसू, प्रथम संस्करण, छंद 89
12. जयशंकर प्रसाद, नीहार, द्वितीय आवृत्ति, साहित्य भवन प्रा.लि., प्रयाग, पृ. 49
13. कामना, अंजली
14. चंद्रगुप्त

7

निराला एवं कालिंदीचरण की कविताएं एक तुलनात्मक दृष्टि

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1896) एवं कालिंदीचरण पाणिग्राही (1901) समकालीन रचनाकार थे। दोनों ने अपने प्रारंभिक कवि जीवन में प्रणय एवं प्रकृति संबंधी कविताएं लिखीं। तत्पश्चात दोनों रचनाकारों ने प्रगतिशील विचारधारा की कविताओं का सृजन किया। दोनों ने मिट्टी से सने 'भवक्लांत जनों' को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। उपन्यास एवं कहानी के क्षेत्र में भी इनकी रचनाओं में समानताएं पायी जाती हैं। इनके कथा साहित्य में भी एक ओर मिट्टी की महक है तो दूसरी ओर ठोस यथार्थ विद्यमान है। निराला के संदर्भ में कालिंदीचरण की चर्चा इसलिए प्रासंगिक और समीचीन है क्योंकि दोनों रचनाकार एक ही समय में एक ही पथ के राही थे। सांस्कृतिक नवोत्थान के काल में दोनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी।

निराला की प्रारंभिक शिक्षा बंगाल में बंगला माध्यम से हुई। उन्होंने कभी अपनी आजीविका के लिए तो कभी अपनी अभिरुचि के चलते बंकिम साहित्य का हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत किया। पुनः कभी वैदिक साहित्य का अनुवाद तो कभी रवींद्र साहित्य का अध्ययन किया। हिंदी में छायावाद को रवींद्र की रचनाओं से प्रेरणा मिलती है तो उड़िया में रवींद्रनाथ के प्रभाव के फलस्वरूप **'सबुज युग'** नामक एक नया काव्य आंदोलन शुरू हुआ। अन्नदाशंकर राय, बैकुंठनाथ पट्टनायक, कालिंदीचरण पाणिग्राही और शरत्चंद्र मुखर्जी 'सबुज युग' के चार प्रतिष्ठित कवि थे। इनके आद्य अक्षरों को मिला कर 'अवकाश' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित हुई, जिसमें कवियों ने अपने सौंदर्य एवं कल्पना को अभिव्यक्ति प्रदान की। निराला ने सबसे पहले समन्वय, मतवाला, सुधा आदि पत्रिकाओं से अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय प्रदान किया था। उन्होंने सन् 1916 में 'जुही की कली' कविता लिख कर नयी काव्य भूमि तैयार की थी।

निराला ने अपनी प्रारंभिक काव्य कृतियों में प्रणय एवं सौंदर्य का चित्रण किया है

तो कालिंदीचरण ने भी प्रणय एवं सौंदर्यपरक अनेक गीत प्रस्तुत किये। छायावाद एवं उड़िया की सबुज कविता में रूमानी प्रेम, स्वप्नशीलता, अज्ञान के प्रति प्रेम, कल्पना का अभिषेक, सूक्ष्म रूपानुभूति, प्रकृति सौंदर्य, वेदना की अभिव्यक्ति एवं राष्ट्र प्रेम की भावना अभिव्यक्त है। निराला तथा कालिंदीचरण वैविध्य के कवि हैं। इस संदर्भ में डॉ. नित्यानंद शतपथी की मान्यता है : ''कालिंदीचरण की कविताओं में एक सुर की रागिनी नहीं, विविध एवं नवीन अनुभूतियों का इंद्रधनुष है। इस दृष्टि से कवि दूसरों की तुलना में अधिक प्रगतिशील एवं आधुनिक चेतना संपन्न है।''[1] कवि कालिंदीचरण की दृष्टि में प्रेम एवं रूप एक दूसरे के समीपवर्ती हैं। 'विरही यक्ष', 'कविर व्यथा' (कवि की व्यथा), 'लोहित व्यथा', 'मानसी', 'रूपर मोहं' (रूप का मोह), 'शेषदान', 'मरणपालि', 'मधु विवाह', 'छंद नायका' जैसी कविताओं से उपर्युक्त विचार की पुष्टि हो जाती है। उनकी प्रेम कविताओं में मिलन-विरह, आंसू, आनंद एवं त्याग की मनोवृत्ति का परिचय मिल जाता है। 'मानसी' (1933) शीर्षक कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

''अंकित है विरह, हृदय में जिसकी दुरूह व्यथा
करे सजल मिलन जिसकी भ्रूलता
है वही मन की मानसी स्मरण करता नित
लिखने पत्र उसे मैं टटोलता उसका अता-पता।''[2]

इस विरह साधना में लीन प्रियतमा की अस्मिता सारे भुवन में छितरे होने का अनुभव कवि करता है। सर्वत्र उसके विरहाश्रु का करुण सजल स्पर्श पाता है :

''चलती-फिरती है प्रियतमा मेरी, भुवन में
रोती है सारे भुवन में वह मेरे विरह में।''

निराला भी अपनी 'प्रिया से' कामना करते हुए कहते हैं :

''तेरे सहज रूप से रंग कर
झरे गान के मेरे निर्झर
भरे अखिल सर
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार!''

निराला 'अपना चिर निर्मल अंतर दिखलाना' चाहते हैं तो कालिंदीचरण ध्रुवतारा की ज्योति में प्रियतमा की दृष्टि की खोज करते हैं। कभी उनकी प्रियतमा के लिए प्रीति की अनंत फल्गुधारा प्रवाहित होती है तो कभी प्रियतमा पल भर के लिए स्वप्न में आ कर अतीत के सारे दुःखों को दूर कर देती है :

''ध्रुव तारा सा मुझे कहीं दूर से
अपलक निहारती रहती
बसंत कुसुम के कानन से
स्नेह प्रीति की धारा बहाती।।''[5]

कवि कालिंदीचरण की रूप चेतना अत्यंत रोमांटिक है। कवि नारी का सूक्ष्म सौंदर्य देख कर आनंदविह्वल होता है। ऐसी स्थिति में कीट्स का कथन 'ब्यूटी इज ट्रुथ, ट्रुथ इज ब्यूटी' स्मरण करता है। प्रियतमा की काली कजरारी आंखें, लज्जा से ढंके चेहरे, धीर शांत चितवन, महाबररंजित चरण एवं वेणी शोभित पृष्ठ देश का दर्शन कर भावातिरेक हो जाना स्वाभाविक है। यह सौंदर्य कवि के जीवन में सार्थकता ले आता है :

''जीवन सुरा ढाले प्रीति-रूप साकी
दो आँखें केवल दो काली आँखें।''

कवि निराला ने 'परिमल' में संगृहीत 'विफल साधना' शीर्षक कविता में प्रकृति के उपादानों से अपने निष्फल प्रेम की अभिव्यक्ति की है :

''जो पुष्प नहीं कहते कुछ, केवल रो जाते हैं
वे अपना यौवन-पराग-मधु खो जाते हैं
अंतिम श्वास छोड़ पृथ्वी पर सो जाते हैं।''

कालिंदीचरण को किसी 'अनामिका' की मानसमोहिनी सुंदर आंखें स्वप्न में दिखती हैं तो उनकी रूप पिपासा स्वप्न के माध्यम से सार्थक होती है। वे आंखें उनका स्वप्न वैभव हैं :

''पल भर में कितने रूप खिलते हैं आँखों में
वे आँखें आ मिलती हैं निशीथ शयन में
रूप की उपासना रचती मानस में
हैं वह स्वप्न-वैभव नहीं हैं कुछ अन्य।''

महाप्राण निराला दृढ़ता के साथ कहते हैं : ''अभी न होगा मेरा अंत।'' इसी प्रकार कालिंदीचरण की 'मधुविवाह' शीर्षक कविता में भी कालिंदीचरण यौवन के शेष होने की उद्घोषणा करते है :

''जीवन में चिर सहचर
सजाऊँगा चिर विवाहवासर

बीता नहीं मेरे विवाह का दिन
शेष हैं मेरा यौवन
मधुशय्या से जगायेगा मुझे
छू ले यदि ऊषा-पवन।''

छायावादी एवं सबुज युगीन कवि 'मैं' के माध्यम से समाज के सभी मनुष्यों के व्यक्तित्वों के स्वतंत्र विकास की हिमायत करते हैं। वे सभी मनुष्यों को सुखी देखने की अभिलाषा का पोषण करते थे। परंतु समाज में पुरानी रूढ़ियां एवं भेद-भावों का शिकार हो कर शताब्दियों से जनता दारिद्र्य, रुग्णता से ग्रस्त हो दुखी जीवन बिताती आ रही थी। इनके उत्थान के बिना मनुष्य समाज में सुखी जीवन की अवधारणा विकसित नहीं हो सकती है। इसलिए निराला जी ने दीन-हीन जनों के उत्थान की कामना व्यक्त करते हुए वह, 'तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'कहां परित्राण', 'दान', 'कुत्ता भौंकने लगा', 'तुलसीदास' जैसी अनेक कविताएं लिखीं। इलाहाबाद के पथ पर ग्रीष्मऋतु में जब लू चल रही थी, सूर्य का जलता हुआ प्रचंड रूप दिखायी पड़ रहा था, एक युवती की विवशता, लाचारी एवं निरीहता को निराला व्यक्त करते हैं :

''एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
मैं तोड़ती पत्थर।''

(अनामिका)

निराला की भांति कालिंदीचरण ने भी 'भिखारी' (भिक्षुक) कविता में भिक्षुक की दयनीय एवं शोचनीय दशा का चित्रण किया है। उन्होंने 'विश्वग्रंथ' शीर्षक कविता में दलित एवं पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए लिखा है :

''कितने नामों में छिपा है करोड़ों मनुष्यों का हाहाकार
अंकित है ग्रंथों में प्रतिध्वनि अवनी आकाश
तलवार की धार में नाम कितने
लिखे गये हैं खून से
मानव के खून-पसीने से
बह जाते कितने रुद्ध हाहाकार।''[5]

कालिंदीचरण ने 'जीवनर स्पर्श', 'देवता मणिष', 'यादुघर', 'छुरीटिए लोड़ा' (चाहिए एक चाकू), 'जय भगवान', 'बाजि राउत', 'आगामी', 'किए शला सइतान' (कौन

साला शैतान), 'पुरी मंदिर', 'नरबलि' आदि कविताएं लिख कर निराला की तरह विद्रोह की आवाज उठायी है। सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हो कर कवि ने कहा है :

''कुत्ते बिल्लियों की समझ होती है
कभी न कभी मान-अपमान
मनुष्य की समझ में न आये कैसे
कौन साला शैतान!
डाकू कोई फाँसी किसी को
कौन समाज का रोग
चाहिए किसे जूता चाबुक
किसी के लिए कारा-भोग!''[6]

देश की अवनत आर्थिक अवस्था से निम्नवर्गीय लोग सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। कवियों का ध्यान ऐसे लोगों की ओर आकृष्ट होता है। निराला ने 'तुलसीदास' में शूद्रों की विवशतापूर्ण स्थिति का चित्र अंकित किया है :

''चलते-फिरते, पर निस्सहाय
वे दीन क्षीण कंकाल;
आशा केवल जीवनोपाय उर उर में।''[7]

एतदुपरांत कवि निराला ने शोषक वर्ग के शोषण के क्रूर एवं प्रचंड रूप की समर्थ व्यंजना प्रस्तुति की है :

''रण के अश्वों के शस्य सकल
दलमल जाते ज्यों, दल से दल
शूद्रगण क्षुद्र-जीवन-संबल, पुर पुर में।''[8]

'वर्ग' एवं 'वर्ण' की लड़ाई में शोषित पीड़ित और दलित जन के साथ कवि की संवेदना रही है। श्रमजीवी वर्ग का शोषण करने में शोषक वर्ग पीछे नहीं रहता। कवि 'निराला' ने युगीन विडंबना का साकार रूप प्रस्तुत किया है :

''जमींदार की बनी
महाजन धनी हुए हैं
जग के मूर्त्त पिशाच
धूर्त्तगण गुनी हुए हैं।''

उड़िया के प्रगतिशील कवि कालिंदीचरण ने 'जय भगवान' (1936) शीर्षक कविता में अत्याचारी और शोषक वर्ग किस प्रकार भगवान बन रहा है उसका चित्र प्रस्तुत किया है :

''देवता के भेष में अबला कुत्ता
पुरुष बने राजा
सबल घूँट भरता है भगवान के वास्ते
दुर्बल का लहु ताजा।
जी तोड़ मेहनत के बाद
पेट भरे न कभी
धोबी का गधा बने
जीवन ढोना है अभी।''[9]

'यादुघर', 'विदाय भगवान', 'बाजि राउत', 'आगामी', 'पुरी मंदिर' आदि कविताओं में कवि कालिंदीचरण की वैप्लविक काव्य चेतना की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है। धर्म, संस्कार, भगवान, समाज संबंधी पारंपरिक विचारों को भी खंडित करके उन्हें युगानुकूल बनाने हेतु प्रगतिशील विचारों से ओतप्रोत किया है।

आलोच्य कविद्वय ने एक ओर मानव समाज के दुःख, दैन्य, वैषम्य और शोषण पर प्रहार किया है, करारा व्यंग्य किया है तो दूसरी ओर मानवीय संवेदनाओं का द्वार उन्मुक्त भी किया है। 'निराला' के लिए स्वाधीनता का एक और अर्थ है निर्भयता। भारतवासी शक्ति संपन्न हों, निर्भीक हों—उनकी यह आकांक्षा थी। मुक्ति की कामना, स्वतंत्रता की आकांक्षा की पूर्ति निर्भयता से हो सकती है :

''समझा मैं
भय ही व्यवस्था का जनक है
निर्भय अपने को
और दुर्बल समाज को
करके दिखाना है—
'स्वाधीन' का ही
एक और अर्थ निर्भय है।''[10]

निराला ने मानव की श्रेष्ठता की स्थापना के लिए समस्त भेदों का विरोध किया है। उन्होंने वर्ण, जाति, देश के भेदों से परे मानवता की स्थापना करते हुए कहा है :

''मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न
भेद पर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर।''[11]

कालिंदीचरण ने 'हास्यतर्पण' (1929), 'नरवलि' (1924) आदि कविताओं में मानवता के गुणगान के साथ भेद-भाव को मिटाने की चिंता प्रकट की है। जाति-धर्म-वर्ण के आधार पर विभाजित मानव जाति क्षुद्र कलहों में बंटी हुई है। ऐसी स्थिति में कवि का आक्रोश है :

''पसरा हाहाकार देश हुआ लुंजपुंज
क्षुद्र कलहों से घिर रखा
छोटे छोटे जाति धर्मों के भेद ने
सबके हाथों को बाँधे रखा
सबके अधरों से सूख चुकी हँसी
पशु से बदतर हुई मानवजाति
कुत्ते से भी अधिक घृण्य है
पदाघात से न जले छाती।।''[12]

कालिंदीचरण मानवतावादी कवि हैं। इसलिए मानव तथा मानविकता की उपेक्षा ने उन्हें विद्रोही बनाया है। उड़ीसा के ढेंकानाल के प्रजा आंदोलन (1938) ने उन्हें बहुत अधिक प्रभावित किया अंग्रेज सरकार के विरुद्ध प्रजा ने विद्रोह किया। इस विद्रोह में बारह वर्षीय बाजि राउत शहीद हुआ। अनेक लोग शहीद हुए। कवि ने बाजि राउत को क्रांति का प्रतीक माना और 'बाजि राउत' शीर्षक प्रसिद्ध कविता लिखी। उड़ीसा के गांव गांव में इसकी पंक्तियां आज भी बड़े उत्साह के साथ गायी जाती हैं :

''इतना छोटा-सा वह बच्चा नादान-सा
गोली-बारूद, तोप से भी न डरा।।''

निराला की कविता 'कुकुरमुत्ता' (1942) और कालिंदीचरण की 'आगामी' (1942) और 'किए शला सइतान' (कौन साला शैतान) (1944) में उग्र साम्यवादी स्वर ध्वनित होता है, इनमें सर्वहारा वर्ग के प्रति कवि की सहानुभूति एवं पूंजीपतियों के प्रति तीव्र

आक्रोश व्यक्त है। 'कुकुरमुत्ता' की 'अबे सुन बे गुलाब....' की पंक्तियों के आधार पर गुलाब को सर्वहारा वर्ग का प्रतीक माना गया है। परंतु प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा उसे 'लुंपेन प्रोलीटेरियट' का प्रतीक मानते हैं। इस विचार का खंडन करते हुए नंदकिशोर नवल कहते हैं : ''तीन दशकों बाद जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि कुकुरमुत्ता के बड़बोलेपन के माध्यम से निराला ने संकीर्ण प्रगतिशीलता पर करारा प्रहार किया था जो उस समय संपूर्ण प्रगतिशील आंदोलन पर हावी थी और गुलाब उनके लिए संपूर्ण सौंदर्य और संस्कृति का वाचक था।''[13] 'कुकुरमुत्ता' में यथार्थ और पैना व्यंग्य है। इसका व्यंग्य 'सर्वतोमुखी' है। आगे की कविता का बीज उक्त कविता में निहित है।

कालिंदीचरण की कविताओं में भी द्विधारहित यथार्थ प्रेम अंकित हुआ है। उनकी प्रगतिशील कविताओं में न तो कल्पना विलास है, न कृत्रिमता और न ही भाषा का आभिजात्य एवं शब्दाडंबर। इन कविताओं में सीधे-सादे शब्दों में कवि का मानव प्रेम अभिव्यक्त है। कविता के बारे में कवि की मान्यता है :

''कविता गढ़ती है एक विराट समाज
हो जहाँ सभी के लिए एक कमरे का घर
सभी को मिले मुट्ठीभर दूधभात
हो जहाँ जो बालक बालिकाएं.....''[14]

इसके पश्चात कवि ने शिक्षा, काम आदि के अधिकार की बात की है। लज्जा निवारण हेतु कपड़ों की आवश्यकता पर बल दिया है। सत्य सिर उठा कर कह सके :

''सत्य हो खड़ा जहाँ सिर उठाकर
लिखता हूँ मैं गाथा उस धर्म की
मिथ्या के आधार पर निर्मित टूटे
रचता हूँ मैं कविता आगामी काल की।''[15]

निराला की कविता 'राजे ने अपनी रखवाली की' में राजन् वर्ग के प्रति तीव्र व्यंग्य है। इसी प्रकार कालिंदीचरण ने अन्याय, अत्याचार तथा शोषण के क्रूर चित्रण के साथ सामाजिक विषमता का, यथार्थ का भी वर्णन किया है :

''आँसुओं से चढ़ाये सान हथियारों को तेरे
यही वक्त है, वक्त है यही
बिठाये थे जिसे, उखाड़ेंगे उसे
सोये न रहो अब चेतकर।''[16]

निराला 'बादल राग' में आर्थिक विषमताओं को समाप्त करने के लिए समाज के 'छोटे' निम्न वर्ग के किसानों के साथ 'हिल हिल खिल खिल हाथ हिलाते' विद्रोह के बादल को आमंत्रित करते हैं। बादलों के आगमन मात्र से ही धनी वर्ग की स्थिति निम्नवत् हो जाती है :

''रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक-अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।''[17]

सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्यों के बावजूद कवि निराला का 'न थकने वाला एक और मन' है जहां निराशा और हताशा के लिए कोई स्थान नहीं है। कालिंदीचरण भी आशावादी हैं, उनका विश्वास है कि भारत पुनः अपना अतीत-वैभव प्राप्त कर सकेगा। अभी अंधेरा है परंतु इसका अवसान सन्निकट है :

''समझा मैंने आज नहीं है मेरी गाथा
जीवन है आशामय, नहीं वह चिर व्यथा।''[18]

निराला एवं कालिंदीचरण ने कोई महाकाव्य नहीं लिखा। निराला ने 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', 'सरोजस्मृति' जैसी लंबी कविताएं लिखीं तो कालिंदीचरण ने 'पुरी मंदिर', 'गांधारी का आशीर्वाद' जैसी महाकाव्यात्मक कविताएं लिखीं। निराला और कालिंदीचरण ने मुक्तछंद में कविताएं लिखीं। कालिंदीचरण की अधिकांश कविताएं छंदबद्ध हैं तो निराला के भी अनेक गीत हैं। निराला का साहित्य एवं जीवन एक दूसरे से अभिन्न है। परंतु कालिंदीचरण के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है। निराला ने 'महाराज शिवाजी का पत्र' में इतिहास के आधार पर बलिदान की भावना को महत्त्व दिया तो कालिंदीचरण ने 'बाजि राउत' के आधार पर देश के सपूतों को बलिदान हेतु उत्प्रेरित किया। राष्ट्रीय जागरण की भावना दोनों कवियों की रचनाओं में विद्यमान है, मानवतावादी एवं 'वसुधैव कुटुंबकम्' का मूलस्वर भी निनादित है। आज मानवीय संवेदनाएं छीजती जा रही हैं। उनका क्षरण हो रहा है। सांप्रदायिकता के वात्याचक्र के प्रकोप से संपूर्ण संसार भीतत्रस्त है। हिंसा एवं दंगों से मानवता लुंज-पुंज हो रही है। ऐसी स्थिति में निराला और कालिंदीचरण की रचनाओं में नयी अर्थवत्ता ढूंढ़ी जा सकती है, जो प्रेम तथा भाईचारा का मंत्रपाठ कराने में सर्वदा समर्थ हो सकती है।

संदर्भ

1. डॉ. नित्यानंद शतपथी, सबुजरू सांप्रतिक, पृ. 26
2. कालिंदी रचनाचय, प्रथम खंड, न्यू स्टुडेंट्स स्टोर, कटक, प्रथम संस्करण, 1971, पृ. 350
3. —यथोपरि, पृ. 278
4. वही, पृ. 279
5. वही, पृ. 424
6. वही, पृ. 423
7. तुलसीदास, निराला, पृ. 18
8. —यथोपरि, पृ. 18
9. कालिंदी रचनाचय, पृ. 366-67
10. सं. नंदकिशोर नवल, असंकलित कविताएं, निराला, प्रथम संस्करण, सन् 1981, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 44
11. सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति, अनामिका, पृ. 19
12. कालिंदी रचनाचय, पृ. 279-80
13. आलोचना, सहस्राब्दी अंक-5, अप्रैल-जून, 2001, पृ. 32
14. कालिंदी रचनाचय, पृ. 356
15. वही, पृ. 357
16. वही, पृ. 422
17. परिमल, निराला, पृ. 188
18. कालिंदी रचनाचय, पृ. 359

8

प्रगतिवादी चेतना
हिंदी और उड़िया कविताओं के परिप्रेक्ष्य में

सन् 1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रांति और सन् 1917 की रूसी क्रांति के फलस्वरूप संपूर्ण विश्व में व्यक्ति के महत्त्व एवं मानवीय संवेदना को अधिक स्वीकृति मिली। आर्थिक विषमता ही सभी अनर्थों एवं राष्ट्रीय तथा सामाजिक अनग्रसरता का कारण है। जर्मन के विशिष्ट दार्शनिक कार्ल मार्क्स (1818-83) ने उपर्युक्त मत का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया। उन्होंने अपना यह मतवाद 'कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो' शीर्षक ग्रंथ में प्रस्तुत किया। पुनः इसकी सविस्तार विवेचना फ्रेडरिक एंगेल्स ने 'दास कैपिटल' के तीन खंडों में सन् 1866, 1885 और 1895 में की। कहना न होगा कि पूरे विश्व में दास कैपिटल का प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा।

मार्क्स के मतानुसार प्राचीन काल में समाज में अत्याचारी और अत्याचारित, धनी एवं निर्धन, शोषक तथा शोषित का वर्ग विभाजन रहा है। उन्होंने अत्याचारी वर्ग को बुर्जुआ या पूंजीपति एवं अत्याचारित वर्ग को प्रोलेटरियट का नाम दिया है, पूंजीपतियों के पास उत्पादन के सभी साधन मौजूद होते हैं। इसलिए वे अत्याचारी हो जाते हैं। दूसरी ओर मजदूर वर्ग के पास उत्पादन का कोई साधन नहीं होता है। इसलिए वे आजीविका हेतु अपनी मेहनत बेचने को मजबूर हो जाते हैं। श्रम के क्रय-विक्रय को ले कर दोनों वर्गों में संघर्ष होता है।

वर्गविहीन समाज की प्रतिष्ठा के लिए बल या शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु यदि हिंसा का मार्ग अपनाना पड़े तो भी वह वाजिब माना जायेगा। सारी दुनिया के मजदूरों को एकता के सूत्र में बांध कर शोषक वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने हेतु मार्क्स ने प्रेरित किया है ताकि सामाजिक प्रगति, आर्थिक उन्नति, राष्ट्रीय विकास आदि संभव होंगे।

उपर्युक्त विचारधारा के आधार पर रूस में राजतंत्र के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति हुई

और वहां साम्यवादी राष्ट्र का गठन हुआ। इस विचारधारा की क्रांतिकारी आवाज भारत में भी जल्द सुनायी पड़ी। भारत के अनेक बुद्धिजीवियों एवं जन नेताओं ने इस राजनीतिक सिद्धांत का हार्दिक स्वागत किया। समस्त भारतीय भाषाओं में प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन ने विशेष रूप से अपना प्रभाव छोड़ा। भारत की समस्त प्रमुख भाषाओं के अलावा कई बोलियों के साहित्य को भी प्रगतिवाद ने प्रभावित किया। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, फासीवाद, पूंजीवाद से मुक्ति की आकांक्षा में प्रगतिवादी विचारधारा का उदय हुआ।

उड़ीसा के संदर्भ में इस विचारधारा ने उत्कलमणि गोपबंधु दास को उद्वेलित किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'उड़ीसा के प्रेमचंद' तथा कथाजनक फकीरमोहन सेनापति ने अपने उपन्यासों में दीन-हीन निष्पेषित जनता का 1897 से 1903 के मध्य मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया है। 'छह बीघा जमीन' (1897) में भगिया, सारिया का चित्रण उपर्युक्त उदाहरण का प्रकृष्ट उदाहरण है। गांव के फटेहाल और मूर्ख लोगों की अपनी औपन्यासिक कृतियों का नायक और नायिका बनने वाले फकीरमोहन भारतीय साहित्य के अद्वितीय रचनाकार हैं। नाई, जुलाहे, खेतिहर मजदूर, अछूत आदि पात्र फकीरमोहन के उपन्यासों में अतीव जीवंत हो उठे हैं।

उत्कलमणि गोपबंधु दास सोवियत सरकार की गतिविधियों से परिचित थे और समाजवादी विचारधारा का प्रचार करने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे। उन्होंने अपने 'समाज' के संपादकीय स्तंभ में 2-2-1924 को लिखा था :

''रूस में सोवियत सरकार के प्रतिष्ठाता और मुख्य परिचालक महात्मा निकोलाई लेनिन की मृत्यु हो गयी है। वे एक असाधारण वीर थे। उनकी मृत्यु के पहले कायर उन्हें कई बार मार चुके थे। अबकी बार उनकी मृत्यु का समाचार पा कर यूरोपीय शासकों को बड़ी राहत मिली होगी। पर सारे विश्व के लोग इस दुख से व्यथित हैं। उनका आदर्श न केवल रूस में सीमित है, बल्कि यह सारे संसार में व्याप्त है।''

गोपबंधु दास न केवल उड़ीसा के जातीय आंदोलन के प्रतिष्ठाता थे बल्कि वे उड़ीसा के सर्वहारा वर्ग के सही अर्थ में प्रतिनिधि थे। सैकड़ों उत्कलीय आजीविका की खोज में कलकत्ता आ कर मेहनतकश मजदूर बन गये थे। उनके अधिकारों की रक्षा हेतु गोपबंधु स्वयं कलकत्ता पहुंचे। उन्होंने मजदूरों को संगठित किया और कलकत्ता मजदूर मंडली की स्थापना की। 'समाज' के (2-1-1926) मुखपृष्ठ पर उन्होंने लिखा था : ''यदि विभिन्न वर्गों के लोगों की विषमताओं को दूर करना और सुख तथा शांति का अधिकार पहुंचाना कम्युनिस्टों की नीति है तो बेशक वह गरीबों को पसंद आयेगा।'' इसके बाद गोपबंधु के नेतृत्व में उड़िया मजदूर वर्ग ने अपने अधिकार हेतु आंदोलन किया। कलकत्ता के हालिड़ी पार्क (अब मोहम्मद अली पार्क) में एक प्रतिवाद सभा हुई। गोपबंधु का

भाषण हुआ। श्रमिकों ने हड़ताल कर दी। इसके फलस्वरूप कलकत्ता में पानी तथा गैसलाइट सिस्टम कई दिनों तक ठप्प हो गयी। इसमें मजदूर मंडली की विजय हुई।

यह श्रमिक संगठन लगभग छह साल तक सक्रिय रहा। बाद में इसमें थोड़ी शिथिलता आ गयी थी तो 1928 में गोपबंधु कलकत्ता गये। उन्होंने संगठन के पुनरुत्थान हेतु प्रयास किया। वे ज्वरग्रस्त हो उड़ीसा लौटे एवं इसी से उनकी मृत्यु हो गयी। गोपबंधु दास अत्यंत धार्मिक स्वभाव के थे परंतु धर्म के नाम पर ढोंग एवं आडंबर से वे घृणा करते थे। ध्यान रहे कि गोपबंधु के जीवनकाल में उड़ीसा में कम्युनिस्ट पार्टी की कोई अस्मिता नहीं थी और न ही गोपबंधु कम्युनिस्ट थे। फिर भी ऐसी समाज व्यवस्था के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी।

अक्टूबर क्रांति के परवर्ती काल में हिंदी साहित्य में द्विवेदी काल एवं उड़िया साहित्य में सत्यवादी युग की प्रमुख प्रवृत्तियां मौजूद थीं। भारतेंदु युग की राष्ट्रीय चेतना द्विवेदी युग में पुष्पित एवं पल्लवित हो रही थी। भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में दो प्रमुख धाराएं थीं। पहली धारा गांधी जी का अहिंसा आंदोलन और दूसरी धारा मार्क्सवादी विचारधारा। हिंदी साहित्य में मार्क्सवाद के अभ्युदय में दैनिक प्रताप की भूमिका उल्लेखनीय है। 'दैनिक प्रताप' के कार्यालय से सन् 1919 में 'साम्यवाद' शीर्षक एक किताब छपी। शिवनारायण मिश्र वैद्य इसके लेखक थे। सन् 1917 के बाद हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' अक्टूबर क्रांति से प्रभावित हुए। सनेही अपनी कविताओं में पूंजीवाद का विनाश एवं समाजवाद के नवनिर्माण हेतु आह्वान करते थे। प्रकृति संदेश, गरीबों की गुहार, विविध विचार, मजदूरों की होली, साम्यवाद आदि रचनाओं के माध्यम से उन्होंने अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी है।

इसी काल के दूसरे कवि देवीदत्त मिश्र ने 'आह्वान' शीर्षक कविता में सामाजिक परिवर्तन का स्वागत किया। हिंदी साहित्य में मार्क्सवादी चेतना के इस प्रारंभिक काल में शिवदास गुप्त, 'कुसुम', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध कलम उठायी। 'राष्ट्रीय पथिक' अभिलाषी आदि छद्मनाम से भी कुछ कवियों ने विभिन्न पत्रिकाओं में मार्क्सवादी कविताएं लिखीं।

भारत में प्रगतिवादी चेतना के प्रसार में पत्र-पत्रिकाओं का स्थान उल्लेखनीय है। बंगला में नवयुग, अंग्रेजी में सोशलिस्ट (1922) मराठी में इंद्रप्रकाश, हिंदी में प्रताप, मर्यादा, हंस, उड़िया में मुक्तियुद्ध, आदि की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी।

समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य में तीसरे दशक का स्वतंत्र अस्तित्व विद्यमान है। इसी दशक में प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन ने भारतीय साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। सामाजिक रूढ़ियों, कुसंस्कारों के विरोध में जहां प्रगतिवादी आंदोलन

ने अपना स्वर उठाया, वहां इसने नये साहित्यरूपों को जन्म दिया। कर्णसिंह चौहान की मान्यता है :

''19वीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण के तहत या नवोदित राष्ट्रीय चेतना के तहत जो आधुनिक साहित्य लिखा गया कमोबेश रूप में उसके सरोकारों में समानता है। यह समानता जातीय भाषाओं के स्वरूप निर्धारण और परिष्कार में सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों के विरोध में विषयवस्तु और रूप में मध्यकालीन बोध और शांति से विच्छेद में, नये साहित्य रूपों और गद्य विधाओं के विस्तार में तथा राष्ट्रीय चेतना के उदय में प्रतिफलित हुई।''[12]

उड़िया तथा हिंदी में प्रगतिवादी विचारधारा का विकास काल सन् 1934 से 1936 तक माना जा सकता है। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का साप्ताहिक पत्र 'सारथी' की सामाजिक चेतना के प्रसार में बहुत बड़ी भूमिका रही है। 1934 के मार्च महीने में इस पत्र में नवकृष्ण चौधरी, मालती देवी, भगवतीचरण पाणिग्राही के प्रयास में किसानों एवं श्रमिकों की स्वार्थ रक्षा हेतु मार्क्सीय दृष्टि का प्रचार किया। 1935 में भगवतीचरण पाणिग्राही के प्रयास में नवयुग साहित्य संग्रह की स्थापना हुई। सन् 1936 में इस संसद की पत्रिका 'आधुनिक' के पांचवें खंड में प्रगतिशील साहित्य संसद और प्रगतिशील लेखक संघ के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया था। हिंदी साहित्य में प्रगतिशील लेखक संघ की पहली बैठक लखनऊ में हुई थी जिसकी अध्यक्षता हिंदी के कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने की थी। उनके 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में समाजवादी चेतना का संकेत मिलता है। परंतु सन् 1936 के हंस, सितंबर में प्रकाशित 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक में इस चेतना का विकास मिलता है तथा यह 1942 तक आगे जाता है।

उड़िया साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि में प्रगतिवादी चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। इस संदर्भ में भगवतीचरण पाणिग्राही, सच्चिदानंद राउतराय (1918), अनंत पट्टनायक (1910), गुरुचरण पट्टनायक, रामप्रसाद सिंह, प्राणनाथ पट्टनायक, मनमोहन मिश्र जैसे रचनाकारों के नाम स्मरणीय हैं। हिंदी के छायावादी और उड़िया के सबुजयुगीन कवियों की दृष्टि को प्रगतिवादी चेतना ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। उड़िया के कालिंदीचरण पाणिग्राही, बैकुंठनाथ शुक्ल और हिंदी के सुमित्रानंदन पंत, रामधारी सिंह 'दिनकर', रामविलास शर्मा आदि उपर्युक्त कथन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। हिंदी कवि देवीदत्त मिश्र अपनी कविताओं में जहां स्वाधीनता का स्वागत करते हैं वहां शोषण की परिसमाप्ति हेतु आह्वान भी करते हैं :

''परिवर्तन! स्वागत आओ।
नवयुग ज्योत्स्ना जगाओ॥
वह साम्य प्रथा प्रकटाओ।

परिवर्तन स्वागत आओ॥
कायर हृदयों में फिर से हो आदर्शों का भान।
भारतीय स्वातंत्र्य समर में हो सहर्ष बलिदान॥
मृगतृष्णा दूर हटाओ।
परिवर्तन! स्वागत आओ।''[3]

उड़िया कवि सच्चिदानंद राउतराय की कविताओं में भी यह आह्वान मुखर हो उठा है :

''जागो दुनिया की मजदूर जाति
भुला दो भयवाद
फावड़ा कुदाल, हँसिया इकट्ठा कर
सुना दो मंत्र नाद।''[4]

और भी,

भुला कर, भूगोल की सीमा मन से
सुनाओ मिलन गान
विराट धरती आवृत्त कर
प्रसरित करो ध्यान।''[5]

प्रगतिवादी कवियों ने कर्म का संदेश सुनाया है। मानवता की असीम शक्ति में उनका विश्वास है। मानवता की असीम शक्ति के सामने ईश्वर के प्रति हिंदी तथा उड़िया के कवियों ने या तो अनास्था प्रकट की है अथवा उसके अस्तित्व पर व्यंग्य किया है :

''जिसे तुम कहते हो भगवान.....
जो बरसाता है जीवन में
रोग शोक दुख दैन्य अपार.....
उसे सुनाते चले पुकार?
तुम से पायी ज्योति-शिक्षा के शुभ-वृत्त में
मैंने अपना
पल पल जलता जीवन
पर तुमने-तुम गुरु, सखा, देवता
तुमने क्या किया?'' (अज्ञेय)

कवि अनन्त पट्टनायक के शब्दों में :

''कौन रे कौन देवता तेरा
किसके लिए होता है मोहित

भागा हुआ वह किस देश में तेरा
जीता रहता सपनों में

क्या होता है उसके साथ
अंधा बने उसके साथ
घूमता फिरता क्यों खाली हाथ?'' (देवता नहीं भुवन बने)

कवि रवींद्रनाथ सिंह की कविताओं में ईश्वर के प्रति न केवल व्यंग्य है, बल्कि प्रतीकात्मक ढंग से एक चेतावनी भी है :

''चरम पत्र दिया भगवान
चरम पत्र ले कर अगले चौबीस घण्टों में
अगली सुबह तक यदि तुमने
नहीं छोड़ा गोलोक सिंहासन
सर से धड़ तुम्हारा, अलग करेगी मेरी तलवार
तुम्हारी अंकशायिनियों की चूड़ियाँ
टूट बिखर जायेंगी मेरे पदाघात में।'' (चरम पत्र)

प्रगतिवादी कविताओं में सर्वहारा वर्ग के संघर्ष का आह्वान बुलंद हुआ है। इस धारा के कवियों ने मजदूर वर्ग के संघर्ष को प्रेरणा दी है। जनता के संघर्ष के लिए कवि व्याकुल रहते हैं। विलासी उच्च समाज के आधार स्तंभ कृषक कवि व्याकुल रहते हैं। विलासी उच्च समाज के आधार स्तंभ कृषक एवं मजदूर हैं। उन्हीं किसानों एवं मजदूरों के मटमैले बच्चों का यथार्थ चित्रण हिंदी में पंत तथा केदारनाथ अग्रवाल ने किया है तो उड़िया में 'पल्लीश्री' शीर्षक ग्रंथ में सच्चिदानंद राउतराय ने।

मजदूर वर्ग सदैव उपेक्षित रहता है। धर्म के ध्वजाधारी एवं शासन की बागडोर संभालने वाले सदैव अपना शोषण का जाल बिछाते आये हैं। कालिदास के काव्य एवं नाटक, जयदेव के गीत गोविंद, रामायण एवं महाभारत, ताजमहल आदि में सत्ता का गुणगान है और लोक की उपेक्षा। पंत जी ने ताजमहल के आधार पर कहा है कि यह आत्मा का अपमान है, मानवता की उपेक्षा है :

''हाय मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो वर्ग का जीवन।''

सच्चिदानंद राउतराय ने भी युग के जीवन के साथ सौंदर्य को मिला कर रखने का भाव व्यक्त किया है :

''परंतु उससे मानव पुत्र को क्या मिला बोलो?
सूखा भला क्या एक बूँद आँसू धरती का, शोषण
खिल उठा देश में काव्य कुसुम बढ़े पुराण व पोथियाँ
भर उठी सुगन्ध चारों ओर बढ़े साधु तपस्वी
करोड़ों प्रजाओं के आहार पर हुई ताजमहल की सृष्टि
वाह री कला आकाश से फिर हुई पुष्पों की वृष्टि
मिट्टी के देवता मेरे
क्या समझा किसी ने तेरी व्यथा का विषम भार?''

प्रगतिवादी कवि परिवर्तनकामी हैं, उनकी पुकार में कवियों की क्रांति की भावना मुखरित हुई है। राजनीति और धर्म की सड़ी-गली मान्यताओं, दकियानूसी विचारों, जर्जर रूढ़ियों और गलित परंपराओं में परिवर्तन की कामना की कविताओं में प्रतिष्ठित हैं। पंत की 'द्रुत झरो जगत् के जीर्णशीर्ण पत्र' की भावनाओं को डॉ. रामविलास शर्मा अभिव्यक्त करते हैं :

''कुसंस्कृति भूमि यह किसान की
धरती के पुत्र की
जीतनी है गहरी दो-चार बार दस बार
बोना महा तिक्त बीज असतोष का
काटती है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।''

कवि अनन्त पट्टनायक ने अपनी 'हम मजदूर जाति जागेंगे' शीर्षक कविता में मजदूरों की मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त किया है :

''जगे हम मजदूरों की जाति
मरते हैं रोज भूखे-प्यासे
एक बार सही
सिर तो उठाया
हमारे ही हड्डी माँस से बनायी इमारतें
खून चूस कर हमारा जो बन गये मोटे/घमण्ड तोड़ेंगे हम उनके
उस जमींदार साहूकार वर्ग का।''

पूंजीवादी समाज व्यवस्था में रचित साहित्य और संस्कृति की विकृतियों को त्याग कर आने वाले कल की शोषणविहीन समाज व्यवस्था का संगीत सुनाना होगा। साहित्य उस समाज व्यवस्था के लिए हथियार साबित होगा। आर्थिक असमानता को क्रूरताओं का

वर्णन दोनों भाषाओं में प्राप्त होता है :

''स्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।'' (दिनकर)

''मरता है शिशु जहाँ माँ की भीगी छाती में सो कर।
बह जाती है फूलों की फसल वैशाख की काली झंझा में॥''
(सच्चिदानंद राउतराय)

प्रगतिशील कविता व्यक्ति विश्व से विश्व व्यक्ति की यात्रा है। इसी क्रम में पुराने प्रतिमान टूट रहे हैं और नये प्रतिमानों का वास्तविकीकरण हो रहा है। दुनिया के किसी भी कोने में सामाजिक विषमता होती है तो कवि का दिल टूट सा जाता है। वह उद्वेलित हो उठता है।

उड़िया तथा हिंदी के प्रगतिवादी कवियों ने देश की समस्याओं का जीवन चित्रण किया है। परंतु उनकी दृष्टि तक ही सीमित नहीं थी। मानवता के प्रति अन्याय होने पर उन्होंने अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। सच्चिदानंद राउतराय की 'वर्लिन', 'हिटलर का दुस्वप्न', रघुनाथ दास की 'हिरोशिमा', 'चीन', 'माओत्सेतुंग', 'कोरिया', 'संघाई' एवं मनोज दास की 'मालय' आदि कविताएं उल्लेखनीय हैं।

उड़िया कवि रघुनाथ दास (1919-1984) ने जनता की मुक्ति पिपासा को रूपायित करने के साथ साथ पूरी दुनिया में सर्वहारा की विजय कामना प्रकट की है। सैकड़ों वर्षों से सामंतवाद द्वारा शोषित पीड़ित चीनी जनता की मुक्ति आकांक्षा ने जनयुद्ध का रूप लिया। दरिद्रता अभाव एवं असुविधाओं से पिसते चीन की कब्र पर मुक्तिसेना ने एक नये युग का सूत्रपात किया :

''आज का चीन
परिचय नहीं आज उसका चाय व अफीम
अकाल में मधुशय्या में नग्न अनगिनत गणिकाएँ
बोस्टन व्यापारी से भीख, नहीं है उसकी आजीविका।''

और भी,

''अभिन्न अभेद्य हम संगठित विश्व की जनता
सभी एकाकार—
रूस, फ्रांस, यूनान, बर्मा, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के
मजदूर, किसान, लिपिक, खलासी बाबू
सभी हैं समान।''

चंद्रकुंवर वर्त्वाल हिरोशिमा की विनाशलीला पर आंसू बहा कर शांत नहीं होते बल्कि पूंजीवादी विनाशकर्त्ता को चुनौती देते हैं :

''हिरोशिमा का शाप
एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जायेगा;
जिसने मिटाया है मुझे वह भी मिटाया जायेगा।''

समकालीन कवि कुमार हसन ने 'मैंने नहीं चाही थी कभी किसी से क्षमा' कविता में अपनी प्रगतिवादी चेतना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की है :

मेरी कविता आज भी दुर्गम अफ्रीका के
घने जंगलों के पत्ते पत्ते पर लिखा है
मानवकृत अकाल पीड़ित अश्वेत कार्यों के
दिन घर आंगन में हर जगह
तुम मुझे पा सकते हो।''

निराला के 'कुकुरमुत्ता', और 'नये पत्ते' के बड़े तीव्र व्यंग्य को नागार्जुन तथा केदारनाथ अग्रवाल ने आगे बढ़ाया। ठीक उसी प्रकार कवि अनन्त पट्टनायक रवींद्रनाथ आदि के शाणित व्यंग्य की परंपरा को ब्रजनाथ रथ, रघु बेहेरा आदि ने विकसित किया। कवि रघु बेहेरा ने आम जनता की दीनता एवं असहायता का चित्रण किया। धनपति कुबेर दोतल्ले के विलास व्यसन में मत्त हैं और अनाहारी (भूखी) रास्ते पर विवश हो रोगिणी माता संतान के मुख में बूंद भर दूध भी नहीं दे पाती है :

''दोतल्ले का अपूर्व पर्याय
दिवस न बीतते छटपटाती रात
अनाहरी मरता है रास्ते पर
हाय!
कंकाल का ढाँचा है माता का शरीर
दीन नग्न आवरण विहीन
बूँद भर दूध नहीं शिशु के लिए
विनष्ट है यह जीर्ण वसुधा।''

सरकारी क्रूर दमन का विरोध करते हुए बाबा नागार्जुन लिखते हैं :

''माताओं पर, बहनों पर, घोड़े दौड़ाये जाते हैं
बच्चे बूढ़े तक न छूटते, सभी सताये जाते हैं
मार पीट है, लूट-पाट है, तहस-नहस बरबादी है।''[६]

हिंदी में नागार्जुन की इसी परंपरा को त्रिलोचन ने विकसित किया। उन्होंने 'कुंभनगर' शीर्षक सॉनेट में प्रयाग के कुंभ मेले का चित्रण करते हुए धर्म के पाखंडियों एवं ढोंगियों पर तीखा व्यंग्य किया है। 'पाहन पूजै हरि मिलैं तो मैं पूजूं पहाड़' की तर्ज पर मूर्तिपूजकों से त्रिलोचन का प्रत्यक्ष संवाद द्रष्टव्य है :

''बात किसी ने पूछी / कौन देवता हैं ये?
बात कहूँगा आगे कह कर वयोवृद्ध उगरा
उनको उगराया
मैंने देखा प्रणीत-भक्ति दोनों हैं छूछी
इसमें भाव कहाँ जो मूर्तिकार में जागे?''[7]

महंगाई, आर्थिक विपन्नता, तंगहाली, शोषितों की दयनीय दशा का कितना मार्मिक वर्णन है :

''भीतर की प्राणवायु बाहर निकाल कर
एक बात उसने कही
जीवन की पीड़ा भरी
बाबू, इस महँगी के मारे / किसी तरह अब तो / और नहीं जिया जाता।
और कब तक चलेगी लड़ाई यह?''[8]

रघु बेहेरा की चेतना को 'मरा हुआ आदमी' के युवा कवि लेनिन कुमार राय ने प्रसारित करते हुए अभिव्यक्ति प्रदान की है :

''किसी अँधेर गली में उसकी
झोपड़ी की मिट्टी की दीवार ढह जाती होगी
उसके नासमझ बच्चों के कंधों पर
भूख से कुलबुलाती रात में
मुट्ठी भर खाने के लिए
बूढ़ा बाप खाँसते खाँसते तपेदिक में
सफेद चादर को भिगो दिया होगा खून से
राह तकते तकते।''

कवि दिनकर ने कल्पनाजीवी कवियों पर व्यंग्य करते हुए पूछा था, 'तुम क्यों लिखते हो?' कल्पनाजीवी कवियों की कविताएं आम आदमी के लिए अनुपयोगी हो जाती हैं। उनके लुभावने शब्द काल्पनिक वस्तु की खोज में समाप्त हो जाते हैं :

''मिहिका रचते हो? रचो किंतु क्या फल इसका?
खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है?
लेकिन, मनुष्य की द्वाभा और सघन होती,
धरती की किस्मत, और भरमती जाती है।''

उड़िया कवि अशोक कुमार बेरिया के शब्दों में :

''क्या तू कर पायेगा कवि?
तू तो अनगिनत मेनकाओं को पकड़ने की खातिर
कोहरे पर तैरता है, उसकी हवा में—
बर्बरता भोगता है रत्न संबल को
समझ नहीं पाता
उस लहूलुहान अंतर की कथा।''

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि हिंदी और उड़िया प्रगतिवादी कविताओं का मुख्य उद्देश्य था कविता को आम आदमी के समीप लाना। इसमें उन्हें कहां तक सफलता मिली है वह दूसरा प्रसंग है। छायावादी दुरूहता से मुक्त करते हुए कवियों ने भुखमरी, अकाल, बाढ़, महामारी, महंगाई, बेकारी, झूठ, शोषण, गरीबी, दरिद्रता एवं अन्य समस्याओं के प्रति अपनी सचेतनशीलता दिखायी है। प्रगतिवादी कविता सीमित नहीं, विश्वोन्मुखी है। 1993 में रूस की बोल्शेविक साम्यवादी सरकार का अंत हो जाने पर भी साम्यवादी चेतना ने नि:संदेह आम जनता की जागरूकता को बहुत अधिक प्रभावित किया है। समकालीन साहित्य में मानवतावादी चेतना के रूप में इस विचारधारा को विशेष महत्त्व प्राप्त है।

संदर्भ

1. समाज, 2-2-1924
2. 'प्रगतिवादी आंदोलन का इतिहास', भूमिका
3. 'आह्वान'-'प्रभा'-जनवरी, 1921, पृ. 21
4. 'हथौड़ा'-'अभियान', 760
5. 'सर्वहारा', पृ. 745
6. 'सच न बोलना', 'नागार्जुन ग्रंथावली'
7. 'दिगंत', पृ. 33
8. 'त्रिलोचन' : 'धरती', पृ. 82

9

हिंदी एवं उड़िया नाटक संदर्भ—आदि एवं मध्य पर्व

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिंदी एवं उड़िया नाटकों का उद्‌भव हुआ। इसके उद्‌भव की पृष्ठभूमि में संस्कृत की समृद्ध नाट्य परंपरा तथा पाश्चात्य नाट्य जगत की भूमिका उल्लेखनीय है। हालांकि इस संदर्भ में लोक नाट्य परंपरा की देन को भुलाया नहीं जा सकता है। लीला, स्वांग, रास, यात्रा, गीति नाट्य आदि ने हिंदी तथा उड़िया नाटकों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। संस्कृत रीति के हिंदी नाटककारों में प्राणचंद चौहान (1610), बनारसीदास (1636), लछिराम (1715) के नाम लिये जाते हैं। परंतु इनके नाटकों में नाटकीय गुणों का अभाव है। ठीक इसी प्रकार कपिलेंद्र देव, राय रामानंद के संस्कृत नाटकों में उड़िया संगीत का प्रयोग मिल जाता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता गोपालचंद्र का 'नहुष' (1841) एवं रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह (1854) का 'आनंद रघुनंदन' हिंदी के मौलिक नाटक हैं। परंतु दोनों नाटकों की भाषा ब्रजभाषा है। वीर किशोर देव (1738–1792) के शासनकाल में 'गौरीहरण' नामक उड़िया नाटक का उल्लेख मिलता है। 'पद्‌मावती हरण' (1834), गोपीनाथ वल्लभ नाटक (1868) आदि उड़िया नाटकों का भी उल्लेख किया जाता है। परंतु उड़िया में नाटक लिखने का सूत्रपात वस्तुतः जगन्मोहन लाला ने सन् 1877 में 'बाबाजी' नाम की रचना से हुआ। इसी प्रकार हिंदी नाटकों के जन्मदाता के रूप में भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाम लिया जाता है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873), प्रेमयोगिनी (1875), सत्य हरिश्चंद्र (1875), विषस्य विषमौषधम् (1876), चंद्रावली (1876), भारत दुर्दशा (1880), अंधेर नगरी (1881), नीलदेवी (1881) आदि मौलिक नाटकों से बाबू भारतेंदु ने हिंदी नाट्य साहित्य को विविधता प्रदान की। साथ ही देश की राष्ट्रीय चेतना के विकास हेतु नाटकों को साधन के रूप में लिया गया। उड़िया नाटक के प्रथम चरण में जगन्मोहन लाला ने 'बाबाजी' में तत्कालीन कुसंस्कारों, अंधविश्वासों एवं अत्याचारों

के विरुद्ध स्वरोत्तोलन किया है। धर्म के नाम पर आम जनता को ठगने वाले ढोंगी एवं पाखंडी साधुओं पर करारा व्यंग्य भी आलोच्य नाटक में प्रस्तुत है। लाला जी के दूसरे नाटक 'सती' (1886) में बाहुबली राजा की चारित्रिक लंपटता, कामुकता के विरुद्ध आवाज उठायी गयी है। अनमेल विवाह पर व्यंग्य करते हुए जगन्मोहन ने 'वृद्ध-विवाह' (1876) प्रहसन की रचना की है। इसमें नाटककार ने तत्कालीन विवाह व्यवस्था का मखौल उड़ाया है। 'भ्रमभंजन' (1868), उड़ीसा विजय (1876) आदि लाला जी के अन्य नाटक हैं। उड़ीसा का जन जीवन नयी सभ्यता की ओर उन्मुख हो रहा था। उस समय सामाजिक उत्थान हेतु जगन्मोहन ने नाटकों को माध्यम के रूप में चुना। उनका यह प्रयास न केवल समाज में बल्कि नाटक के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी सिद्ध होता है।

भारतेंदु ने अपने नाटक 'भारत दुर्दशा' में बाल्य-विवाह, भूत-प्रेत की पूजा, ज्योतिषी एवं 'अंधेर नगरी' की मार्मिक व्यंग्यात्मकता, राज व्यवस्था, अंधविश्वास, नैतिक मूल्यों का ह्रास जैसे प्रसंगों को उपस्थापित किया है। लाला जी ने भी अंग्रेजीयत से प्रभावित तत्कालीन अर्द्धशिक्षित नवयुवकों की उच्छृंखलता, मदिरापान तथा सामान्य जन में भूत-प्रेत, जादू-टोना आदि पर आधारित अंधविश्वासों पर मार्मिक व्यंग्य किया है।

भारतेंदु तथा जगन्मोहन दोनों रंगकर्मी थे। भारतेंदु नाट्याभिनय के लिए प्रेरणा देते थे तो जगन्मोहन अपने गांव में राधाकांत रंगमंच की प्रतिष्ठा करके अपने नाटकों का अभिनय करते थे। दोनों नाटककार अपने नाटकों में अभिनय भी करते थे। वास्तव में दोनों रंगमंच के नाटककार, अभिनेता और पृष्ठपोषक (पैट्रॉन) थे। इसलिए अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति हेतु दोनों रचनाकारों ने नाट्यक्षेत्र में नवीन प्रयोग किये हैं। इनके नाटकों में न तो संस्कृत की नाट्यरीति उपस्थापित है और न ही शेक्सपिरीय प्रभाव है। भारतेंदु ने लोक नाट्य का सहारा लिया तो जगन्मोहन ने संगीतों का। दोनों नाटककारों ने अपने समाज की रीति-नीति का जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज के सांस्कृतिक संकट को इन नाटककारों ने उपस्थापित किया है। परंपरावादी एवं आधुनिकतावादियों के संघर्ष की नाटकीय अभिव्यक्ति प्रदान की है। आलोच्य नाटककारों ने जर्जर मान्यताओं, अनुपयोगी सिद्धांतों, कुसंस्कारों को उद्घाटित करते हुए आधुनिकीकरण के भारतीय रूप को अपनाने के लिए आग्रह किया है। इनके नाटकों में द्वंद्व, उत्कंठा एवं नाटकीय गतिशीलता तथा तत्त्वों की कमी होने पर भी उनकी ऐतिहासिक महत्ता को अस्वीकारा नहीं जा सकता है।

'भारतेंदु मंडल' के केंद्र में भारतेंदु थे। उन्होंने अपने समकालीन रचनाकारों को प्रोत्साहित किया। फलस्वरूप, पं. प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत दुर्दशा', राधाकृष्णदास

ने 'दु:खिनी बाला' (1880), 'महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रताप' (1897), बालकृष्ण भट्ट ने 'दमयंती स्वयंवर', 'वेणु-संहार', (1909) 'जैसा काम वैसा परिणाम', राधाचरण गोस्वामी ने 'सती चंद्रावली' (1897), 'अमर सिंह राठौर', 'श्रीदामा' आदि प्रसिद्ध नाटकों से हिंदी नाट्य साहित्य को विकसित किया। यद्यपि जगन्मोहन लाला ने कोई मंडल नहीं बनाया तथापि उनकी नाट्य प्रतिभा ने नाट्य रचना के मार्ग को प्रशस्त किया। उनके समकालीन नाटककार रामशंकर राय ने 'कांची-कावेरी' (1880) की रचना की। भारतेंदु की तरह रामशंकर ने बंगला नाटकों का अध्ययन एवं अनुशीलन किया था। उनका प्रथम नाटक 'कांची-कावेरी' पुरुषोत्तम देव की कांची विजय की कहानी पर आधारित है। अंग्रेजों के शासन के चलते 1880 तक भारतीयों में एक प्रकार की मानसिक जड़ता आ चुकी थी। वे अपने प्राचीन ऐतिह्य तथा वैभवसंपन्न संस्कृति को भुलाये जा रहे थे। ऐसी स्थिति में इतिहास की गौरवमय कहानियां सुना कर उनमें नयी प्रेरणा उत्पन्न करना भारतीय लेखक अपना कर्त्तव्य समझते थे। रामशंकर ने पराधीन अवसादग्रसित उड़िया लोगों के मन में अपनी जन्मभूमि उत्कल के प्रति ममत्व तथा गौरवबोध उत्पन्न कराने का प्रयास किया। भारतेंदु, भारतेंदु मंडल तथा आगे चल कर जयशंकर प्रसाद ने भी अपने नाटकों से भारत की दिव्य, भव्य एवं उदात्त गाथाओं को प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस संदर्भ में डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं : ''एक तो अपने पूर्वपुरुषों की याद दिला कर प्राचीन गौरव को उद्‌बुद्ध करने के लिए और दूसरे इन चरित्रों के आधार पर उच्च भारतीय आदर्शों की पुन:प्रतिष्ठा तथा नवीन युग चेतना को प्रतिभासित करने के लिए।''[1]

यह सत्य है कि हिंदी साहित्य का परिवेश उड़िया साहित्य से किंचित् भिन्न है। हिंदी का क्षेत्र व्यापक है। हिंदीभाषी तथा हिंदीतर प्रांतों में उसका प्रचार-प्रसार है जबकि उड़ीसा तक ही उड़िया नाट्य साहित्य सीमित कहा जा सकता है। परंतु हिंदी की 'राष्ट्रीयता' एवं उड़िया की 'जातीयता' परस्पर विरोधी नहीं हैं। दोनों का उद्‌देश्य एक है, भले ही स्वर भिन्न क्यों न हो।

रामशंकर राय ने अपने नाटकों—वनबाला (1882), कलिकाल (1883), बूढ़ावर (1892), राम वनवास (1891), कंस वध (1896), चैतन्य लीला (1906), रामाभिषेक (1917), विषमोदक (1900), युगधर्म (1902), कांचनमाली (1904), लीलावती (1912), बड़लोक (1913), विश्वयज्ञ (1916)—में एक ओर रंगमंच की तकनीकी आवश्यकताओं पर बल दिया है तो दूसरी ओर पाखंडी साधु, ढोंगी साधक, अत्याचारी जमींदार का विरोध किया। साथ ही रामशंकर ने नारी शिक्षा के विस्तार, अंतर्जातीय विवाह आदि विचारों को उपस्थापित कर अपनी प्रगतिशीलता का भी परिचय दिया है।

उड़िया के नाट्यकार रामपाल मिश्र के सीता विवाह (1899), वसंतलतिका (1933),

भिकारीचरण पट्टनायक के कटक विजय (1901), नंदिकेशरी (1915), रत्नमाली (1915), संसार चित्र (1915), सुशीला (1917), राजा पुरुषोत्तम देव (1925), पंडित गोदावरीश मिश्र के पुरुषोत्तमदेव (1917), मुकुंददेव (1920) नाटक इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। वीर विक्रमदेव ने 'विक्रम थियेटर' जैसे रंगमंच की प्रतिष्ठा की एवं नाटक भी लिखे। उनका 'हरिश्चंद्र' नाटक पौराणिक कथा पर आधारित हैं। 'अंबिका देवी' और 'भातृस्नेह' इतिहास की पृष्ठभूमि पर रचित हैं। उनका 'उत्कल दुर्दशा' शीर्षक नाटक भारतेंदु हरिश्चंद्र की 'भारत दुर्दशा' के आधार पर लिखा गया है। इसमें नाटककार की उत्कलीय जातीयता का ज्वलंत दृष्टांत मिलता है। अंग्रेज शासनाधीन निपीड़ित उड़ीसा के निवासियों के आलस्य, अपव्यय, फैशनपरस्ती, स्वार्थपरता, लोभ, भय, रोग, मदिरापान आदि पर नाटककार का व्यंग्य भारतेंदु के 'भारत दुर्दशा' एवं बालकृष्ण भट्ट के 'वेणुसंहार' का स्मरण कराता है। जातीय प्रीति, सामूहिक हित भावना के बाधक तत्त्वों को पहचानते हुए उनके 'उत्कल दुर्दशा' नाटक में एक संवाद भी है : ''यदि उत्कल के भाई लोगों के समाज में मदिरा, कुपाठ, भीरुता अनेकता न आये होते तो उत्कल के भाग्य में अचानक परिवर्तन न आया होता। बाल्य विवाह, वृद्ध विवाह और व्यभिचार के विरुद्ध भी आवाज उठायी गयी है। विधवा विवाह का समर्थन किया गया है। 'भारत दुर्दशा' में भारत भाग्य भारत के जीवन में कोई आशा न देख कर अपनी आत्महत्या कर लेता है परंतु 'उत्कल दुर्दशा' में उत्कल भाग्य उत्कल माता के दुर्दशा मोचन हेतु आशावान हो कर उत्कलोदय करने की दृढ़ता का भाव प्रकट करता है। यह वीरविक्रम की मौलिकता है। पुन: उन्होंने 'नाट्य तत्त्व' शीर्षक ग्रंथ की रचना की है जो उनकी विशिष्टता है।

हिंदी तथा उड़िया नाटकों के प्रथम चरण में अमूर्त भावनाओं का मानवीकरण हुआ है। भारतेंदु के 'भारत दुर्दशा' में तत्कालीन भारत की दुर्दशाओं से ग्रसित परिस्थितियों को प्रतीकात्मक भाषा एवं प्रतीकात्मक चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। उक्त नाटक में भारत, भारत भाग्य, भारत दुर्दैव, सत्यानाश, निर्लज्जता, मदिरा, आलस्य, रोग आदि प्रतीक पात्र समवेशित हैं। 'अंधेर नगरी' में गोवर्धन की मूर्खता भी प्रतीकात्मक है। 'प्रेमयोगिनी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि नामकरण प्रतीकात्मक है। 'चंद्रावली' नाटक में चंद्रावली के चरित्र को निष्काम प्रेम के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। भारतेंदुकालीन नाटकों में राष्ट्रीय भावना के संवाहक प्रतीकात्मक चरित्रों को उपस्थापित किया गया है। सामाजिक हित साधन हेतु इस काल के नाटककार प्रयासरत थे। उन्होंने जीर्ण-शीर्ण जनजीवन में संस्कार लाने का निडर हो कर प्रयास किया। कथन की पुष्टि हेतु निम्न मत उद्धृत हैं : ''जिस बात को वे समाज के लिए हानिकारक समझते थे, उन्होंने उसकी भर्त्सना निडर हो कर की। इस तरह लोगों का

मनोरंजन करने के साथ साथ उन्होंने तत्कालीन दशा की यथार्थता को उनके सम्मुख प्रस्तुत कर, उनके हृदय मंथन का प्रयास कर, उन्हें सद्वृत्तियों की ओर जाने की प्रेरणा भी दी।''[12] रामशंकर राय के 'विषमोदक' (1900) नाटक का नामकरण भी प्रतीकात्मक है। इस नाटक के उत्तरार्ध में सदानंद कहता है :

''भव विषय मोह पावक
ऋण है विष मोदक।''[13]

उड़ीसा की जमींदारी नीलाम हो जाने पर भी देशी राजा एवं जमींदार अपने स्वभाव से मुक्त नहीं हो पा रहे थे। इसलिए ऋणग्रसित हो अपने मिथ्या अहंकार में जी रहे थे। इसी प्रकार 'युगधर्म' (1902) के माध्यम से ब्रह्म धर्म की वार्ता को युगधर्म कहा गया है। इस संदर्भ में डॉ. कुलमणि राउत की मान्यता है : ''ब्रह्म धर्म की मानविकता, उदारता, जाति-पांति के भेद-भाव को दूर करना और दूसरे मानव धर्मों को साहित्य के माध्यम से प्रसारित करने के उद्देश्य से ही 'युगधर्म' नाटक की रचना हुई है।''[14]

'विश्वयज्ञ' शीर्षक नाटक में भी प्रतीकों का सुंदर प्रयोग हुआ है : ''जीवन ही यज्ञ है। उदर होमकुंड और कर्म ही आहुति है।''[15]

हिंदी तथा उड़िया नाटकों के प्रथम चरण अर्थात आदि पर्व में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रतीकात्मक आदि नाटक समान रूप से लिखे गये। सामाजिक कुरीतियों तथा धार्मिक पाखंडतावाद के विरुद्ध चल रहे आंदोलन का प्रभाव हिंदी तथा उड़िया नाटककारों पर पड़ा। पराधीनता की पीड़ा से नाटककार दुखी रहे और देशात्मकताबोध का बीजमंत्र अपने नाटकों में फूंका। पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से नयी प्रेरणा भरने की कोशिश की गयी। सामाजिक विषमताओं की जम कर खिल्ली उड़ायी गयी। इन नाटककारों ने स्वदेश, स्वराज्य, स्वधर्म, स्वभाषा के प्रति प्रेम हेतु उद्बुद्ध भी कराया।

हिंदी नाटक का द्वितीय चरण प्रसाद युग के नाम से अभिहित है। जयशंकर प्रसाद का सज्जन (1911), महाभारत के कथानक पर केंद्रित है। इसके उपरांत प्रसाद जी ने 'कल्याणी परिणय' (1913), प्रायश्चित (1914), राज्यश्री (1917), 'विशाख' (1921), 'अजातशत्रु' (1922), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (1926), 'कामना' (1927), 'स्कंदगुप्त' (1928), 'चंद्रगुप्त' (1931), 'ध्रुवस्वामिनी' (1933) नाटक लिखे। अर्थात प्रसाद जी का नाट्य लेखन काल 1911 से 1933 तक रहा है। प्रसाद जी के नाटकों से हिंदी नाट्य साहित्य को नयी दिशा मिली। इस संदर्भ में डॉ. बच्चन सिंह की मान्यता है : ''प्रसाद का आविर्भाव हिंदी नाट्य साहित्य में एक नया अध्ययन जोड़ता है। उनके पहले के नाटककारों ने वर्ण्य वस्तु को न तो श्रमपूर्वक उपलब्ध किया और न उनकी पुनर्रचना

की। उन्होंने मुख्यतः नाटकों को विचारों या भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम माना। फलस्वरूप नाटकों का साहित्यिक मूल्य नहीं बन पाया। नाटकीय तकनीक अधिकतर पुरानी ही रही। अपने रोमैंटिक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने हिंदी नाटकों का नया विन्यास किया।'[6] प्रसाद युग में मुख्य रूप से ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक लिखे गये। प्रसाद के नाटकों में 'सज्जन' एवं 'जनमेजय का नागयज्ञ' पौराणिक नाटक है। 'कामना' को छोड़ कर अन्य नाटकों में इतिहास को आधार बनाया गया है। हालांकि इनमें इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय किया गया है। प्रसादयुगीन युग बोध एवं राष्ट्रीय चेतना भी इनमें व्यंजित हुए हैं क्योंकि इतिहास का पुनर्रचना करना उनका उद्देश्य न था, भारतीय संस्कृति की महत्ता की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित करने का उद्देश्य था। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के संदर्भ में प्रसाद के नाटक महत्त्वपूर्ण हैं। परंतु इनकी राष्ट्रीयता कहीं भी 'विश्वमैत्री' का बाधक नहीं बल्कि उसका साधक है। इनमें मानव-प्रेम, करुणा, त्याग, बलिदान आदि सद्वृत्तियों के गुणगान के साथ भेदभाव, प्रांतीयता, कट्टरता, सांप्रदायिकता पर तीव्र प्रहार मिलते हैं।

प्रसाद के समसामयिक नाटककारों में सुदर्शन का दयानंद (1917), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा', प्रेमचंद का 'कर्बला' और 'संग्राम' (1922-24), उदयशंकर भट्ट का 'चंद्रगुप्त मौर्य' (1931) और 'विक्रमादित्य' आदि ऐतिहासिक नाटक के अंतर्गत है तो मैथिलीशरण गुप्त का 'तिलोत्तमा' (1916), 'अनघ' (1925), सुदर्शन का 'अंजना', गोविंदवल्लभ पंत का 'वरमाला' जैसे नाटक पौराणिक नाटक की कोटि में आते हैं। उपर्युक्त नाटकों की सूची से यह सिद्ध होता है कि प्रसादयुगीन नाटकों की अवधि 1935 के आसपास तक है। प्रसादयुगीन नाटकों की भाषा कलात्मक एवं संवाद मनोवैज्ञानिक हैं। इनमें गंभीर ओजपूर्ण, मार्मिक तथा भावपूर्ण संवादों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

उड़िया नाटकों का दूसरा चरण 1920 से शुरू होता है। इसकी कालावधि को 1950 तक स्वीकारा गया है। अश्विनी कुमार घोष (1892-1962) के आविर्भाव से उड़िया नाटक का क्षेत्र व्यापक हुआ, परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विकास हुआ एवं उड़िया नाटक को नयी दिशा मिली। अश्विनीकुमार के कुल 38 नाटकों में से 12 पौराणिक, 13 ऐतिहासिक एवं 13 सामाजिक हैं। इनकी कथावस्तु एवं शैली नितांत नवीन है। इन नाटकों से उनकी वैप्लविक तथा सृजनशील मानसिकता का परिचय मिलता है। बंगला नाट्यकार गिरीशचंद्र बोस एवं द्विजेंद्रलाल राय का प्रभाव हिंदी में ही नहीं अश्विनीकुमार पर भी पाया जाता है। उनके प्रथम नाटक 'भीष्म' (1915) से अंतिम नाटक 'कैदी' (1957) की यात्रा चालीस वर्षों से भी लंबी है। उनके ऐतिहासिक नाटक उड़िया साहित्य की अनमोल निधि हैं। सेवजी (1918), कालापाहाड़ (1922),

हिंदी एवं उड़िया नाटकों के इस दूसरे चरण में नाटकों का उद्देश्य आदर्शबोध, समाज सुधार, जन जागरण, देश प्रेम आदि रहा है। इस संदर्भ में शोध कार्य की संभावना है। इससे आज के भारतीय जन-जीवन को नयी दिशा प्राप्त हो सकती है।

संदर्भ

1. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी नाटक, पृ. 48
2. डॉ. शांति मलिक, हिंदी नाटकों की शिल्पविधि का विकास, पृ. 96
3. विषमोदक, रामशंकर ग्रंथावली, पृ. 576
4. डॉ. कुलमणि राउत, ओड़िया नाट्य साहित्य ओ रामशंकर राय, पृ. 244
5. यथोपरि : पृ. 251
6. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी नाटक, पृ. 50
7. पटाभूईं : कालीचरण ग्रंथावली (चतुर्थ खंड), परिचय, पृ. 205
8. डॉ. नारायण साहू, स्वाधीनता परवर्ती ओड़िआ नाटक, पृ. 8

10

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी एवं उड़िया के प्रतीक नाटक : परंपरा, पृष्ठभूमि एवं तुलना

अमूर्त, अदृश्य, अप्रस्तुत विषय को मूर्त, दृश्य एवं प्रस्तुत के रूप में उपस्थित करने की सामर्थ्य प्रतीक की होती है। बिंदु में सिंधु के दर्शन प्रतीक के माध्यम से होते हैं। प्रतीक शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक है। यह अप्रस्तुत कथन की एक महत्त्वपूर्ण सांकेतिक पद्धति है। यह किसी सूक्ष्म विचार को, व्यापक अर्थ को सीमित शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है। आदि काल से प्रतीकों का प्रयोग होता आया है। साहित्य जगत में 'चर्यापद' इसके उदाहरण हैं। परंतु नाटक में प्रतीकों का प्रयोग बहुत देर से हुआ है। लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित 'प्रबोध चंद्रोदय' से प्रतीक शैली का आरंभ माना जाता है। हिंदी साहित्य में भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'भारत दुर्दशा' (1876) को प्रथम प्रतीकात्मक नाटक माना जाता है। इसी तरह उड़िया में रामशंकर राय के 'विषमोदक' शीर्षक नाटक में पहली बार प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। यह नाटक 1900 में प्रकाशित हुआ था। नाटक का शीर्षक प्रतीकात्मक है। इस नाटक के अंतिम पर्याय में सदानंद कहता है :

''भव विषय मोह पावक।
ऋण है विष मोदक॥''

उड़ीसा में जमींदारी की नीलामी हो गयी परंतु देशी राजा एवं जमींदार अपने व्यसन विलास में डूबे रहे। उससे मुक्त न हो सके। ऋणग्रस्त हो मिथ्या प्रदर्शन में जीते रहे।

भारतेंदु के नाटकों के अलावा प्रसाद जी के 'कामना' (1927) में संतोष, विनोद, विलास, विवेक, दंभ, दुर्वृत्त जैसे पुरुष पात्र एवं शांति, कामना, लीला, लालसा, करुणा, महत्त्वाकांक्षा आदि स्त्री पात्रों का संयोजन है। प्रसाद जी ने मनोवृत्तियों को पात्र रूप प्रदान करके अपने मन में उथल-पुथल मचाने वाले दार्शनिक विचारों को मूर्त रूप प्रदान किया है। प्रसाद जी ने आधुनिक विलासमयी भोगवादी सभ्यता के प्रति अपने विरोध को प्रतीकों के माध्यम से प्रकट किया है। उड़िया नाटककारों में अश्विनीकुमार

एवं कालीचरण पटनायक ने प्रतीकों का प्रयोग किया है। परंतु स्वातंत्र्योत्तर काल में नाट्य साहित्य में प्रतीकों का सफल प्रयोग हुआ है। एतद्पूर्व राष्ट्रीय चेतना से उद्बुद्ध करना साहित्य का मूल उद्देश्य रहा। समाज संस्कार साहित्य के साथ साथ विद्यमान रहा। अतीत वैभव का परिचय प्रदान करते हुए साहित्यकार अपने वर्तमान की दुर्गति पर क्षोभ प्रकट करता था और भविष्य के प्रति आशावादी था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य साहित्य एवं कला में प्रतीकवादी आंदोलन शुरू हुआ था। सन् 1886 में फ्रांस में इसका सूत्रपात हुआ। यूरोप के विभिन्न रचनाकारों को प्रभावित किया। जैसे इंग्लैंड के यीट्स, जर्मनी के स्टीफेन जॉर्ज, रूस के क्लार्क, आदि। फ्रांस में प्रतीकवादी आंदोलन द्वारा प्रभावित नाटककारों में मिटरली, स्ट्रिण्डबर्ग, कंडरमैन आदि। नाटकों में प्रतीकों के प्रयोग करने वालों में मिटरली का नाम उल्लेखनीय है। उनका 'ब्लू बर्ड' एक सार्थक प्रतीकात्मक नाटक है। इसके अलावा उनके 'द इंट्रूडर', 'द सेवेन प्रिंसेस' आदि में भी प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। इब्शन, शॉ आदि के नाटकों में बुद्धिवाद का प्राबल्य है। बुद्धिवादी नाटकों में प्रयुक्त प्रतीक सामाजिक कहलाते हैं। भावाभिव्यक्ति में यथार्थवादी भाषा की असमर्थता की स्थिति में ये नाटककार अपने भावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। इब्शन ने अपने 'डॉल्स हाउस', 'पिलार्स ऑफ द सोसायटी', 'घोस्ट्स' आदि नाटकों में प्रतीकों का सार्थक प्रयोग किया है। स्वातंत्र्योत्तर काल के भारतीय प्रतीकवादी नाटककार उपर्युक्त पाश्चात्य नाटककारों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं।

प्रतीकात्मक नाटक कुछ विशेष कलात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु लिखे जाते हैं। यद्यपि अधिकांश प्रतीकवादी प्रयोग आनुसंगिक होते हैं तथापि इन प्रयोगों की व्यापकता तथा नाटकीय अभिप्रायों की अभिन्नता के चलते एक विशेष प्रकार के नाटक का जन्म होता है।[1] 'प्रबोध चंद्रोदय' के आधार पर पंडित बलदेव उपाध्याय ने प्रतीक नाटकों की चर्चा करते हुए कहा है : ''संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पात्र बनाया गया है। कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की मूर्त कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त-अमूर्त का मिश्रण। इसलिए नाट्य के लक्षणकर्त्ताओं ने इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया है। यहां इस प्रकार के नाटकों को हमने प्रतीक नाटक कहा है क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक मात्र होते हैं। उनकी भौतिक जगत में स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।[2] ध्यान रहे कि 'प्रबोध चंद्रोदय' का नायक 'महामोह' है जबकि अन्य पात्र मनुष्य की विशिष्ट भावनाओं के प्रतीक हैं, जैसे—विवेक, ज्ञान, युक्ति, दंभ, अहंकार आदि। प्रतीक नाटकों में पात्र मनुष्य ही नहीं होते हैं, वे सूक्ष्म मानवीय अनुभूति, चेतना आदि के प्रतीक भी होते हैं। इसके फलस्वरूप अमूर्त कलात्मक जगत का सहज ही मूर्त

रूपायन होता है। डॉ. मोहन अवस्थी के अनुसार, ''प्रतीक नाटक वे हैं जिनके पात्र किसी विशेष भाव या विचार के पर्याय होते हैं।''[3] प्रतीक के सहारे नाटककार अपनी मनोवृत्ति को विभिन्न रूपों में चारित्रिक स्वरूप प्रदान करके संतुष्ट होता है। इस संदर्भ में लक्ष्मीनारायण लाल की मान्यता है : ''नाटकों में प्रतीक का धर्म केवल इतना ही है कि वह संवेद्य बात को, तथ्य को शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक सीधे और शक्तिशाली ढंग तथा सुंदर रूप से प्रस्तुत कर सकता है।''[4] भाषा की दृष्टि से प्रतीक नाटक अत्यंत प्रभावशाली हैं। इसके संवाद अर्थगर्भित, उद्देश्यपूर्ण एवं व्यंजना मंडित होते हैं। इस विषय में कहा भी गया है : ''प्रतीक की अपनी कोई अलग भाषा नहीं होती, प्रतीक तो स्वयं नाटक की प्रकृत भाषा और सहज बोल है—ऐसी भाषा जो हम नित्य प्रति जीवन में बोलते हैं। चेतन-अचेतन रूप से जिन्हें हम संप्रेषणीयता और बोधत्व के माध्यम से बनाते हैं। इस तरह ये प्रतीक हमारे व्यक्तित्व के अंग जैसे स्वप्न हैं।''[5] उड़िया के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नित्यानंद शतपथी भावों की विचित्रता और भावाभिव्यक्ति की उद्बोधनपरक भावप्रवणता को प्रतीकवाद की आत्मा मानते हैं।[6] प्रतीकवाद के अंत:स्वर पर विचार करने के पश्चात स्वातंत्र्योत्तर हिंदी एवं उड़िया नाटकों में प्रतीक प्रयोग की चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक हिंदी नाटक लिखे गये हैं। इनमें स्वाभाविक रूप से प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। ये प्रयोग मुख्यतया सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं। पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कृतियों को मिथकीय नाटकों के अंतर्गत रखा जाता है।

सेठ गोविंददास ने 'कर्ण' शीर्षक मिथकीय नाटक में समकालीन राजनीति को आधार बना कर उस पर व्यंग्य किया है। उनके दूसरे नाटक 'शेरशाह' में शेरशाह का चरित्र प्रतीकात्मक है। देवराज दीनेश ने 'मानव प्रताप' में महाराणा प्रताप की मानवीय संवेदनाओं को चित्रित किया गया है। साथ ही उनके द्वंद्व, आवेग एवं अनुभूतियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है। पृथ्वीनाथ शर्मा के 'उर्मिला', रांगेय राघव के 'स्वर्गभूमि का यात्री', सीताराम चतुर्वेदी का 'शवरी' आदि नाटकों में मनोविश्लेषण की चमत्कारिता, युगानुरूप पात्रों का चरित्र-चित्रण एवं प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग मिलते हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मृत्युंजय' (1957) नाटक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मृत्यु पर लिखा गया। इसके अलावा 'चक्रव्यूह' (1954), 'धरती का हृदय' (1961) आदि नाटकों में प्रतीकों का सुंदर प्रयोग हुआ है।

शंभूनाथ सिंह के 'धरती और आकाश' नाटक में वर्ग विभाजन और उसके परिणाम को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'धरती' यानी मेहनतकश मजदूर और 'आकाश' पूंजीपति के रूप में चित्रित है।

विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ' (1957) और 'बर्फ के मीनार' (1966) में नयी लौकिक चेतना एवं बदलते सामाजिक परिदृश्य के संघर्ष का विश्लेषण प्रस्तुत है।

परवर्ती हिंदी नाटककारों ने पुराण एवं इतिहास को आधुनिक जीवनबोध और संवेदना का वाहक बनाया। नवीन मूल्यबोध के प्रकाश में नाटक लिखे गये। मोहन राकेश के 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में उल्लेख है : ''यहां नंद और सुंदरी की कथा आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है।''[17] इस नाटक में 'बुद्धदेव' मात्र एक पात्र नहीं बल्कि मानव की चिरंतन आकांक्षा का प्रतीक है। राकेश जी के 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में व्यक्त है : ''कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है। नाटक में वह प्रतीक उस अंतर्द्वंद्व को संकेतित करने के लिए जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करता है।''[18] कालिदास का सारा अस्तित्व विसंगत और त्रासद होने के लिए बाध्य हुआ है। यह कहीं न कहीं रचनाकार की नियति का प्रतीक भी है। 'आधे-अधूरे' की नायिका सावित्री अतृप्त संवेगों का प्रतीक है। आज के मनुष्य का खंडित व्यक्तित्व की खोज हुई है। इस नाटक का प्रत्येक पात्र आधा है और अधूरा है। आज के समाज का सार्थक प्रतीक है 'आधे अधूरे।'

जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क' में नाममात्र के लिए इतिहास का सहारा लिया गया है। यह नाटक ''अंतर्सत्य और बहिर्जगत के कलुष संश्लिष्ट, अनुभूति की प्रवणता और संघर्ष की शक्ति का प्रामाणिक नाटक है।''[19] जगदीशचंद्र माथुर के एक अन्य नाटक 'शारदीया' में कल्पना और अनुभूति के सम्मिश्रण से उभरे मानव मूल्यों का प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है। उनका 'पहला राजा' भी प्रतीकात्मक नाटक है। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय राजनीतिक घटनाओं को 'पृथु' के माध्यम से उपस्थित किया गया है। नाटककार की मान्यता है : ''वैदिक एवं पौराणिक साहित्य, पुरातत्व और इतिहास, लोकगीत और बोलचाल इन सभी से मुझे प्रतीकों के उपकरण मिले हैं, उन व्यवस्थाओं को प्रकट करने के लिए जिनसे मैं इस नाटक में जुझता रहा हूं। वे समस्याएं सर्वथा आधुनिक हैं। वे उलझनें मेरा भोगा हुआ यथार्थ हैं। तो यह नाटक न पौराणिक है, न ऐतिहासिक, न यथार्थवादी, यह तो एक 'मॉडर्न एलिगरी' आधुनिक अन्योक्ति का मंत्रीय रूप है।''[20]

लक्ष्मीनारायण लाल ने पौराणिक आख्यानों के माध्यम से आधुनिक जीवन की तस्वीर उतारी है। 'कल्कि', 'सूर्यमुखी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'एक सत्य हरिश्चंद्र' जैसे नाटकों के माध्यम से मिथकों का सुंदर प्रयोग हुआ है। 'कल्कि' में मध्ययुगीन तंत्र साधना की भयावहता को प्रजातंत्र के नाम पर किये गये अत्याचारों का प्रतीक माना जा सकता है। 'मिस्टर अभिमन्यु' में विखंडित व्यक्तित्व, अनिश्चयता एवं निरूपायता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' (1954) में निराशा, कुंठा, पशुता, व्यर्थता एवं अनास्था व्यक्त है। ऐसी दशा में मूल्य एवं परंपरा के प्रति आस्था टूटती है। अंध धृतराष्ट्र का सिंहासनासीन होने का प्रयास अत्यंत प्रतीकात्मक है। युयुत्सु आत्महंता प्रवृत्ति का प्रतीक है। अश्वत्थामा आधुनिक मानव का प्रतीक है जो अर्धसत्य में विवेकहीन होता जा रहा है। संजय बुद्धिजीवियों का प्रतीक है जो विवेकशील हो कर भी निर्विकार है।

दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विषपायी' नाटक परंपरा से मुक्ति के संघर्ष को रूपायित करता है। इसकी आभारकथा में दुष्यंत कुमार ने कहा भी है : ''यह काव्य नाटक पौराणिक परिवेश द्वारा जर्जर रूढ़ियों और परंपरा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेत करता है।''[11] इस नाटक में शंकर एक साथ परंपराविद्रोही, परपंराप्रेमी तथा मानवीय संवेदनाओं से युक्त मोहग्रस्त प्रेमी है। आधुनिक मानव के खंडित व्यक्तित्व का प्रतीक है। युद्ध और युद्धजन्य विभीषिका, राज्यलिप्सा और युद्ध मनोवृत्ति की मारी हुई आधुनिक जनता के रूप में सर्वहत नामक पात्र को उपस्थित किया गया है। आज के शासकों की दुर्नीति, अनिश्चय, कृत्रिमता की ओर भी आलोच्य नाटक में संकेत किया गया है।

सुरेंद्र वर्मा के 'सेतुबंध', 'नायक खलनायक विदूषक', 'द्रौपदी' एवं 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटकों में एक ओर प्राचीन परंपराओं, मूल्यों, नियम, मर्यादा तो दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के नितांत आत्मीय और अंतरंग संबंधों, नारीत्व की सार्थकता आदि एक साथ प्रस्तुत हैं। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीक नाटक है। इसमें यौनेच्छा को श्रेष्ठ कामना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुरुष की नपुंसकता और स्त्री के आक्रोश के साथ प्रभात होता है। परंतु उस रात में शीलवती जो जीवन दृष्टि प्राप्त करती है वह पारंपरिक मूल्य बोध की सीमारेखा को खंड खंड कर देती है। शीलवती राजा ओक्कारू एवं सभासदों से पूछती है : ''क्या हो तुम? रातों की उसी साझेदारी का प्रतीक...उस गोपनीय और अंतरंग निकटता का सामूहिक उद्घाटन...''[12] सुरेंद्र वर्मा का नाटक 'द्रौपदी' आधुनिक जीवन के भौतिकवाद, अंधा संघर्ष, युवापीढ़ी की स्वच्छंदता, विसंगति आदि का सामना करने वाली नारी की सम्मिश्र मानसिक स्थिति का प्रतीक बन कर उभरा है। इस नाटक के नामकरण में भी बड़ी गहन प्रतीकात्मकता पायी जाती है।

हिंदी नाट्यों में प्रतीकात्मकता विभिन्न विषयों पर आधारित है। यह युगानुकूल तथा अर्थवान है। हिंदी में कई प्रतीक नाटक यथार्थवादी शैली में भी लिखे गये हैं। लक्ष्मीनारायण लाल का प्रथम नाटक 'अंधा कुआं' भारतीय विवाह प्रथा का प्रतीक है। उनका दूसरा प्रतीक नाटक 'मादा कैक्टस' है। मादा कैक्टस के सपंर्क में आने पर नर

कैक्टस सूख जाते हैं, किंतु वह नहीं सूखती। अरविंद, सुजाता, आनंदा के माध्यम से नये प्रतीकात्मक कौशल का परिचय मिलता है। स्वयं नाटककार के शब्दों में : ''टेढ़ी बात कहने के लिए प्रतीक का सहारा लेना पड़ा और प्रतीक भी एक नहीं, संगीत से ले कर कार्यों तक, घटनाओं से ले कर पात्रों तक, नीलाम के बाजे से अनाथालय के बच्चों के गीत तक, मादा कैक्टस से मुर्गी व चिड़िया तक सब प्रतीक ही हैं।''[13] 'रक्तकमल', 'सुंदर रस', 'दर्पण' आदि उनके अन्य प्रतीक नाटक हैं। लक्ष्मीनारायण लाल का 'कर्फ्यू' सामाजिक समस्याओं, स्त्री-पुरुष संबंधों, बदलते जीवन मूल्यों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' एक प्रतीक नाटक है। राजनेताओं की झूठी दिलासा एवं कुटिल व्यक्तित्व के रहस्यों को प्रतीकात्मक ढंग से उद्घाटित किया गया है। शासक की मनोवृत्ति का प्रतीक शुतुरमुर्ग को माना गया है। शासक वर्ग सर्वदा मूल समस्या से मुंह छिपा लेता है और शुतुरमुर्ग की तरह पलायनवाद का रास्ता अपना लेता है।[14] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'बकरी' भी इस धारा के अंतर्गत है।

स्वातंत्र्योत्तर पारंपरिक उड़िया नाटकों में प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। परंतु इनमें प्रतीकों का कलात्मक प्रयोग सार्थक नहीं कहा जा सकता है। फिर भी, कुछ नाटकों में इनका प्रयोग मिलता है। नाट्यकार रामचंद्र मिश्र का 'घर संसार' संपूर्ण उड़िया जनजीवन के मूल्यबोध का प्रतीक है। 'नरोत्तम दास कहे' बदलते मूल्य का प्रतीक है। भंजकिशोर पटनायक का 'अशोक स्तंभ' (1959) भारतीय राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रतीक बन कर आता है। स्वाधीनता का मूल्य सामान्य जन को समझना होगा, यह 'अशोक स्तंभ' का संदेश है।

उड़िया नाटक के रंगमंच पर गोपाल छोटराय के 'भरसा', 'परकलम', 'शंखासिंदूर' आदि नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुए। समकालीन भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के खोखलेपन को अभिव्यंजित करने वाले नाटकों में कमललोचन महान्ति के 'किराणी', आनंदशंकर दास के 'लुहा शिकुलि', रजत कुमार कर के 'अंधपुटुलि' आदि उल्लेखनीय हैं। अक्षयकुमार महांति के 'रात्रिर राधा' रहस्यवादी नाटक है और उनका 'विरोधाभास' का नायक केवल चीत्कार करता रहता है। उस चीत्कार से ही उसके अनुगामी ईप्सित अर्थ ढूंढ़ लेते हैं।

साठोत्तरी काल में उड़िया नाटक के क्षेत्र में भी अनेक प्रयोग हुए। सृजनी, संकेत, रूपसार, उत्तर पुरुष, उड़ीसा कल्चरल एशोसिएशन जैसी नाट्य संस्थाओं ने नयेपन की तलाश की। नाटककारों ने नवीन विषय, शैली आदि की खोज की। परंपरा की पुरानी लीक से हट कर, पूर्व मान्यताओं के बंधन तोड़ कर इस काल के नाटककारों ने यूरोपीय नाट्यकला के परिवर्तन पर ध्यान दिया। एक अनिर्वचनीय अंतर्पीड़ा और एक विचित्र

प्रकार के असहायबोध का चित्रण हुआ।

नाटककार मनोरंजन दास के 'काठघोड़ा' नाटक में 'काठघोड़ा' एक अदृश्य शक्ति के इशारे प्रचलित होने वाली एक निर्जीव काष्ठमूर्ति है। जीवन्मृत मनुष्य का प्रतीक है जिसकी अपनी कोई इच्छा नहीं। यंत्रवत् मनुष्य का प्रतीकात्मक चित्रण। नाटक में प्रयुक्त चाबुक शक्ति तथा क्षमता का प्रतीक है। अहंकारी मनुष्य दूसरे को प्रहार कर आत्मतोष करता है। मनोरंजन का एक अन्य नाटक 'नंदिका केशरी' ऐतिहासिक मिथकीय नाटक है। इसकी नायिका इतिहास की राजनंदिनी नहीं बल्कि युद्धविहीन पृथ्वी की कामना में मानवीय संवेदनाओं की राही है। नाटकार ने उसे इतिहास की सीमा से निकाल कर युद्धविरोधी शक्ति के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत किया है।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक मिथकों पर आधारित उड़िया नाटकों में विजय मिश्र के 'तट निरंजना', 'परशुराम', डॉ. रत्नाकर चइनि के 'मुखा', 'अथच चाणक्य', 'पुनश्च पृथ्वी', 'नचिकेता उवाच', यदुनाथदाश महापात्र के 'अथवा अंधार', रमेश प्रसाद पाणिग्राही के 'धृतराष्ट्र आखि', 'महानाटक', रवींद्रनाथ दास के 'ययाति यंत्रणा', कुंज राय के 'नायक चंद्रसेण', हरिहर मिश्र के 'अदृश्य नट', 'निंदित गजपति', 'हे निषाद, निवृत्त हुआ', डॉ. नीलादिभूषण हरिचंदन के 'सत्य संशय सालवेग', 'स्वर्गारोहण', 'भीम भोईंक संधानरे', 'अनुशासन', 'रत्नाकार रास्ता' आदि अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त नाटकों में हिंदी के पौराणिक मिथकीय नाटकों की भांति कभी अंतसंघर्ष, कभी समकालीन राजनीति व्यंग्य तो कभी मानव मूल्यों के क्षरित होने की पीड़ा एवं कभी निराशा, कुंठा, पशुता, व्यर्थता एवं अनास्था के भाव प्रकट हुए हैं।

'परशुराम' नाटक में महाराज का चरित्र स्वार्थी, विलासी, कामुक है जो आज के सत्तासीन लोगों का प्रतीक है। इस नाटक में काली परशुराम से कहती है : ''और धार दो। और शान दो। महाराजाओं की गर्दन में बहुत चर्बी है। मोटी चर्बी है। आसानी से कटेगी नहीं।''[15]

'पुनश्च पृथिवी' के पात्र महाभारत के हैं परंतु उनकी परिस्थितियां आज की हैं। इसके चरित्रों को नये आयाम दिये गये हैं। सभी पात्र अपने अंतर्मन में वेदना, यातना, द्वंद्व को झेल रहे दिखायी पड़ते हैं। अंधकार, कुंठा, निराशा, भय, आतंक, प्रतिशोध, घृणा, अमर्यादा, विरूपता के बीच से निकल कर जीवन-सत्य का अन्वेषण किया गया है। विप्लवी देव कहता है : ''हम सभी डारविन के योग्य उत्तराधिकारी हैं। मार्क्स का उदात्त स्वर ही हमारे जीवन का स्लोगन है। फ्रॉयड की चेतना ही हमारा प्राण है। गांधी का मानवीय दर्शन ही अपना दर्शन है।''

यदुनाथदाश महापात्र के नाटक 'अथवा अंधार' में अंधकार द्वारा किये गये नियंत्रण का वर्णन है। यह अंधकार सभी चरित्रों के व्यक्तित्व को पूर्णतया कब्जे में कर लेता है।

ऐसी दशा में 'महानाटक' की रानी कहती है : ''मुझे मंजूर है सखि! राई भर स्वप्न के लिए मैं कंगालीन हूं। थोड़े से स्वप्न के लिए मैं असफल हूं। मैं हृदय दूंगी। मन लगाऊंगी। अपने प्रेम, ईर्ष्या, करुणा और सब कुछ दे दूंगी। रत्ती भर स्वप्न दो मुझे।''[16]

रमेश पाणिग्राही के 'धृतराष्ट्र आखि' में परंपरा और प्रगति का द्वंद्व है। आज धृतराष्ट्रों की आंखें तो हैं पर वे अंधे हैं, अंधे बने रहने को विवश हैं अथवा वैसा अभिनय कर रहे हैं। पाणिग्राही के 'अंतिम पर्व' में अभिमन्यु स्वप्नमय भविष्य का प्रतिनिधि है। जीवन की नयी परिभाषा ढूंढ़ने में व्यस्त है। परंतु पराजय का सामना करना पड़ता है। यहां 'अंतिम पर्व' वास्तव में अंतिम नहीं होता बल्कि एक नये पर्व का आरंभ होता है। इस नाटक में बलिदत्त, कुरुक्षेत्र, कृष्ण, पार्थ आदि प्रतीकधर्मी हैं।

डॉ. नीलादिभूषण हरिचंदन के 'स्वर्गारोहण' में महाभारतकालीन स्वर्गारोहण की कहानी को समकालीनता प्रदान करने का प्रयास है। संजय के माध्यम से नाटककार ने प्राचीन विश्वासों का समकालीन दुर्दशाओं के साथ समन्वय किया है। हरिचंदन के 'अनुशासन' में सांप्रतिक अनुशासन की बात कही गयी है। भीष्म का कथन है : ''स्वार्थ को त्याग कर एक असली पृथ्वी की रूपकल्पना असंभव है। वास्तव में कोई धर्म पालन नहीं करता है। सभी धर्मध्वजाकारी हैं। तुम, मैं, आचार्य द्रोण या हम जैसा कोई भी धर्म पालन नहीं कर रहा है। कोई न्याय नहीं दे पाता है। कोई भी नहीं।''[17] मूल्यबोध की हत्या और स्वार्थपरता पर नाटककार का व्यंग्य प्रतीकात्मक है।

यथार्थवादी शैली में रचित उड़िया के प्रतीक नाटकों की आलोचना करना समुचित प्रतीत होता है। मनोरंजन दास के नाटक 'आगामी' (1950) के पश्चात नाटकों में अनेक प्रयोग हुए। इस नाटक के अंतिम पर्याय में कही गयी उक्ति अत्यंत प्रतीकात्मक है : ''हर किसी की वीणा के तार टूट चुके हैं फिर भी जीना पड़ेगा आने वाले कल के लिए।'' मनोरंजन के 'अमृतस्य पुत्रः', 'क्लांत प्रजापति', 'वनहंसी', 'अरण्य फसल' आदि नाटकों के नामकरण, कथानक, पात्र आदि भी प्रतीकात्मक हैं। 'अरण्य फसल' नाटक में यह दिखाया गया है कि सभ्य मनुष्य के मन में अरण्य बढ़ता जा रहा है, कामना की फसल लहलहाती रहती है। नाटक का नायक सुकुमार और नायिका शाश्वती भोगवादी तथा विलासिता में डूबे अपनी अपनी त्रुटियों को छिपाने का प्रयास करते हैं। वृद्ध नीलरतन पुत्र एवं पुत्रवधू की इस कामना से आहत होते हैं। इसमें मूल्यबोध का ह्रास तथा भोगोन्मुखी प्रवृत्ति की ओर उन्मुखता को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। एक बकरी को सेक्स के प्रतीक के रूप में चित्रित करते हुए उन्होंने मानव की अतृप्त यौन पिपासा की ओर संकेत किया है। 'मृगया' में मानव मन के तीन स्तर चेतन, अवचेतन और अचेतन को आलोक के जरिये विभिन्न रंगों से पृथक् कर समझाने का प्रयास है।

अलवर्ट कामू के 'कालिगुला' को आधार बना कर विश्वजीत दास ने 'सम्राट' नाटक लिखा। इस नाटक का पात्र 'चंद्र' सदा से मनुष्य की पहुंच से दूर है। फिर भी यह चिरंतन सुख, शांति एवं प्रेम का प्रतीक है। सम्राट को कुत्सित एवं भयंकर वस्तुओं से प्रेम है। मूल्यबोध का वहां कोई महत्त्व नहीं। सामर्थ्यवान सम्राट अपनी अखंड सामर्थ्य से सब कुछ चूर्ण कर देना चाहता है। वह अपने को ईश्वर मान बैठता है।

प्राणबंधु कर का नाटक 'अशांत' (1960) प्रारंभ से अंत तक लैंप पोस्ट के आलोक से अभिनीत है। यह लैंप पोस्ट आशा एवं संभावना का प्रतीक है। यह प्रज्ञा अथवा विवेक का भी प्रतीक है। नाटककार प्रफुल्ल रथ के 'शव पड़िछि' में समाज के सभी वर्गों के लोगों की चिंता प्रकट की गयी है। परंतु इनमें से कोई भी शव को उठा कर संस्कार की बात नहीं करता। यहां 'शव' नष्ट हो चुके मूल्यबोध का प्रतीक है। नाटक में प्रयुक्त 'अतीत' परंपरा का प्रतीक है।

रमेश पाणिग्राही के प्रतीक नाटकों में 'कमलपुर डाकघर', 'दुर्घटणावशतः', 'मुँ आम्भे ओ आम्भेमाने', 'जणे महापुरुषंक जन्म ओ मृत्यु संपर्कारे', 'हाती को होमियोपैथी', 'आनंदनगरकु यात्रा', 'शेष पाहाच' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। 'शेष पाहाच' में आज के मनुष्य की विखंडित आत्मसत्ता का प्रतीकात्मक वर्णन है। पाहाच अर्थात सीढ़ी केवल अर्थनीतिक विसंगति का प्रतीक नहीं बल्कि सामाजिक, बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक विसंगतियों का भी प्रतीक है।

नाटककार कार्तिकचंद्र रथ के 'बहिमान', 'ईश्वर जणे युवक', 'स्वर्गद्वार', 'तृतीय पृथिवी', 'समुद्रर रंग यंत्रणा', 'मांसर फूल', 'स्मृति सांत्वना ओ शून्यता' नाटकों में प्रतीकों का सफल प्रयोग हुआ है। उड़िया के अन्य प्रतीक नाटककारों में प्रसन्न कुमार मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद दास, डॉ. हेमंत कुमार दास, प्रसन्नकुमार दास, वनविहारी पंडा, ई. चंद्रशेखर नंद, रामचंद्र मिश्र, रतिरंजन मिश्र, रणजित पट्टनायक, नवीन परिड़ा, आनंदचद्र पही, प्रफुल्ल त्रिपाठी की सृजनशीलता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इनकी प्रतिभासंपन्न नाट्कृतियों से उड़िया नाट्य साहित्य समृद्ध हुआ है, साथ ही इन कृतियों से नाट्य साहित्य को नयी गति मिली है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी एवं उड़िया प्रतीक नाटकों में रचनाकारों ने वर्ग संघर्ष और तज्जन्य व्यक्ति असहायता का मार्मिक चित्रण किया है। मनुष्य के दुःख, यंत्रणा और हताशा की इन नाटकाकारों ने कल्पना नहीं की है बल्कि उन्हें उपलब्ध किया है। प्रेम तथा विवाह की समस्या से ले कर शोषण, नारी शोषण, राजनीतिक धोखाधड़ी, क्षमता का अपप्रयोग, स्वार्थपरता आदि को नाटकों में स्थान दिया है। मानवीय संवेदनाओं के क्षरण, मूल्यबोध के ह्रास, नैतिकता की बदलती परिभाषा से दोनों भाषाओं के नाटककार आहत हैं। मानव सत्य, प्रेम का अन्वेषण ही उनका चरम ध्येय रहा है। भोगवादी

संस्कृति को अग्राह्य करने का आग्रह है। मानवीय संबंधों पर बल दिया गया है। इन नाटककारों ने प्रतीकों के माध्यम से वीभत्सता एवं वास्तविकता से पिंड न छुड़ा कर उसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। यह सच है कि कहीं कहीं प्रतीकों की भरमार से नाटक बोझिल हो गये हैं एवं सामान्य पाठक नाटककार के उद्देश्य से रूबरू नहीं हो पाता है। लेकिन ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है। पराजय बोध, अमानवीय प्रवृत्तियों, भाग्यवाद, पराङ्मुखिता आदि के माध्यम से नाटककारों ने कर्म, शक्ति, भावना, कल्याण, विश्वास एवं मानवीय आस्था के भाव प्रकट किये हैं। इतिहास, पुराण, कल्पना, मिथक के साथ आधुनिक यथार्थ के समन्वय पर बल दिया गया है। यह भी सत्य है कि नाटककारों ने अपनी ओर से समस्याओं का कोई निदान नहीं सुझाया है। ऐसा करने हेतु वे बाध्य भी नहीं हैं। पुनः निदान सापेक्षिक होता है। स्थान, काल, परिस्थिति के अनुसार यह बदल भी सकता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि हिंदी और उड़िया के प्रतीक नाटकों ने कथ्य एवं शिल्प को नवीनता प्रदान की, नाटककार, रंगशिल्प एवं समाज के त्रिभुज को नये आयाम प्रदान किये। इन नाटकों से नाट्य साहित्य के नये प्रतिमान निर्मित हुए। रंगमंच का विकास भी हुआ। अतः प्रतीक नाटकों में प्रतीकों के सार्थक प्रयोग से नाट्य साहित्य को नयी गति प्राप्त हुई है।

संदर्भ

1. डॉ. तारकनाथ शास्त्री, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, सिद्धांत और वाद, पृ. 237
2. पं. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 621-622
3. डॉ. मोहन अवस्थी, हिंदी साहित्य का अन्यतम इतिहास, पृ. 113
4. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, मादा कैक्टस, भूमिका, पृ. 8
5. यथोपरि
6. डॉ. नित्यानंद शतपथी, काव्यपुराण, पृ. 58
7. मोहन राकेश, लहरों के राजहंस, भूमिका, पृ. 10
8. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, भूमिका, पृ. 8
9. गिरीश रस्तोगी, हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष, पृ. 120
10. जगदीशचंद्र माथुर, पहला राजा, पृ. 5-6
11. दुष्यंत कुमार, एक कंठ विषपायी, आभारकथा, पृ. 2
12. सुरेंद्र वर्मा, सूरज की अंतिम किरण से सूरज की पहली किरण तक, पृ. 55
13. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, मादा कैक्टस, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृ. 10
14. डॉ. दशरथ ओझा, हिंदी नाटक उद्‌भव और विकास, पृ. 340
15. विजय मिश्र, परशुराम, पृ. 32
16. रमेशचंद्र पाणिग्राही, महानाटक, पृ. 44
17. डॉ. नीलादिभूषण हरिचंदन, अनुशासन, पृ. 59

11

आकाश एवं पृथ्वी के कवि सीताकांत

समकालीन भारतीय कविता में सीताकांत महापात्र (1937) का नाम अनन्य है। सीताकांत ने उड़िया कविता को समृद्ध किया, महिमा-मंडित किया। परंतु उनके परिचय को केवल एक उड़िया कवि तक सीमित रखना अनुचित होगा। सीताकांत समकालीन भारतीय कवियों के प्रतिनिधि हैं। भारतीय साहित्य के प्रसिद्ध कवियों में सीताकांत का नाम अग्रोच्चारित है। सीताकांत की प्रथम कविता 'अश्रु ओ स्वाद' सन् 1953 में 'प्रजातंत्र' के साहित्यिक पृष्ठ में प्रकाशित हुई थी। इसी बीच कवि ने अपने रचना संसार के 53 वर्ष पूरे कर लिये हैं। इनकी मौलिक तथा अनूदित पुस्तकों की संख्या सत्तर से भी अधिक है। सीताकांत को अपने काव्य संकलन 'अष्टपदी' के लिए 1967 में उड़ीसा साहित्य अकादमी पुरस्कार, 'शब्दर आकाश' के लिए 1971 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1982 में महाकवि कुमारन आशन पुरस्कार, 1983 में सोवियत लैंड पुरस्कार, 1984 में सारला पुरस्कार, 1993 में ज्ञानपीठ पुरस्कार आदि से विभूषित किया गया है। बहुमुखी प्रतिभासंपन्न सीताकांत ने कविता के अतिरिक्त उड़िया और अंग्रेजी में अनेक निबंध ग्रंथों की भी रचना की है। उन्होंने जनजातियों की कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। श्रीकांत वर्मा के 'मगध' से ले कर 'दे सिंग लाइफ' (2000) तक दर्जनों से भी अधिक ग्रंथों के अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। भारतीय भाषाओं के अलावा डेनीस, स्वीडिस, फारसी, जर्मनी, रुमानियन, स्पेनिश, रूसी, हिब्रू, मैसिडोनिया जैसी पाश्चात्य भाषाओं में भी उनकी रचनाएं अनूदित हो कर पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हैं। सीताकांत की विलक्षण प्रतिभा, सारस्वत सृजनशीलता, अनुपम सौंदर्यबोध, कलात्मक रचना कौशल, प्रतिभावान चिंतन एवं मनन आदि पाठकों को चकित कर देते हैं। इस संदर्भ में जर्मन प्रोफेसर हाइनरिक स्टिटेनक्रन का कथन उल्लेखनीय है : ''समकालीन भारत के सुदक्ष कवियों में से सीताकांत महापात्र एक विशेष उल्लेखनीय नाम है। पारंपरिक काव्य शैली, पाश्चात्य प्रभावित शैली, आंगिक आदि में उन्होंने एक नये मार्ग का संधान प्रदान किया है। उन्होंने नयी काव्य चेतना अभिमुख्य पर महत्त्व प्रदान किया है।''

[2]

बीसवीं शताब्दी का छठा दशक उड़िया कविता के लिए उथल-पुथल वाला काल था। फलस्वरूप काव्य के क्षेत्र में द्वंद्व, द्विधा एवं अस्थिरता का बोलबाला रहा। यह समय उड़िया कविता के लिए 'लिटमस टेस्ट' के रूप में प्रस्तुत हुआ। ऐसे समय में सीताकांत महापात्र का काव्य जगत में आविर्भाव वरदान साबित हुआ। सीताकांत ने विषय-वस्तु एवं अभिव्यक्ति की अस्पष्टता को दूर किया। उन्होंने उड़िया कविता के भाव सौंदर्य एवं शिल्प सौष्ठव को इच्छित ऐश्वर्य प्रदान करते हुए उसे नयी दिशा की ओर अग्रसरित किया। अपने प्रथम कविता संकलन 'दीप्ति ओ द्युति' (1963) से ही सीताकांत ने अपनी आधुनिक सूझ-बूझ एवं नयी दृष्टि का परिचय प्रदान किया है। 'जारा शवर का गीत' शीर्षक कविता में जारा शबर के माध्यम से कवि की घोषणा ध्वनित होती है :

''नचिकेता की तरह मैं जानना नहीं चाहता
जीवन और मृत्यु का अमोघ रहस्य
और न मैं सुनना चाहता हूँ
कुरुक्षेत्र में अर्जुन के विषाद का खण्डित स्वर
ज्ञान, कर्म और भक्ति योग।''[1]

उड़िया के आदिकवि सारलादास के 'महाभारत' के अध्ययन-मनन से सीताकांत को परंपरा मिली, परंतु उस परंपरा में आधुनिकता का समावेश करने में कवि को अतीव सफलता प्राप्त हुई है। इस संदर्भ में प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह का कथन है : ''एक तरह से देखें तो यह (जारा शवर का गीत) आधुनिक भारतीय कविता का घोषणा पत्र भी है और काव्यशास्त्र भी।''[2] सीताकांत की 'एक गीत कुब्जा के लिए' शीर्षक कविता में कवि की आधुनिकता का स्वर और अधिक मुखरित हुआ है :

''तभी तो माँगता हूँ मुक्ति आज
अभिशप्त मथुरा के बन्दीजन
तेरे चरण-रेणु स्पर्श कर
झर जाये जीवन का सारहीन निर्मोक
मिट जाये धूसरता, अन्त हो मृत्यु का
और विभंग काल का
खत्म हो अश्लील और कुत्सित की राजपूजा
घिर जाये सूखे आकाश में
स्याह-काली कजरारी मेघमाला।''[3]

यह सत्य है कि सीताकांत की कविताओं में आध्यात्मिकता है परंतु मिट्टी, मनुष्य और आकाश के प्रति कवि का घनिष्ठ आकर्षण भी है। पृथ्वी के लिए कवि की आत्मीयता है। इसलिए मिट्टी के प्रति अपनी कृतज्ञता के भाव उनकी कविता में बार बार प्रस्फुटित हुए हैं। मिट्टी और आकाश के बीच एक अविच्छेद संबंध स्थापित करने की उन्मुखता पायी जाती है। रामधारी सिंह 'दिनकर' की तरह सीताकांत 'ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में' (कुरूक्षेत्र, छठा सर्ग) नहीं मानते। उनका तो मानना है कि आकाश के आशीर्वाद के फलस्वरूप मिट्टी के तमाम द्रव्य अस्तित्व प्राप्त करते हैं। इसलिए उसके प्रति मिट्टी के कण कण में व्याकुलता है :

''मैं रोता हूँ अधमरी दूब की उसाँसों में
मेरे चेहरे पर हँसी फूटती है
आकाश को बादल और चातक को बारिश मिलने पर।''[4]

अधमरी दूब के दुखी होने पर आकाश में संभावना के काले-कजरारे बादल दिखायी पड़ते हैं। आकाश से कोई रहस्यमय सत्ता सारे ऐहिक दुखों को कोमल करुणा से भर लेने के लिए सदा मौन रह कर प्रतिश्रुति प्रदान करता रहता है। कवि सीताकांत का यह प्रत्ययबोध सांसारिक अंधकार में भी प्रकाश का संकेत प्रदान करता है। सामान्य मनुष्य की दृष्टि स्थूलाकार होती है। उसकी संकीर्ण चेतनाशीलता के सामने जो वस्तु नगण्य होती है, उसी नगण्य सत्ता से सीताकांत की काव्य दृष्टि महत्तर सत्ता की खोज करने हेतु प्रतिबद्ध रहती है। मामूली अधमरी दूब में से विश्वकल्याण की भावना को ढूंढ़ कर उसे अभिसिंचित करना सीताकांत की अनुपम विशेषता है।

[3]

सीताकांत को मृत्यु ने बार बार आकृष्ट किया है। दूर से मृत्यु भयानक लगती है एक दुर्दमनीय शत्रु की तरह। पर वास्तव में मृत्यु ऐसी नहीं होती। वह परम सखा है। सीताकांत की मृत्यु चेतना की चर्चा के पहले उड़िया काव्य चेतना में मृत्यु चेतना का स्वरूप जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है। उड़िया काव्य चेतना न केवल जीवन को बल्कि कविता को भी चरम आकर्षक नश्वरता प्रदान करती है। इसलिए सैकड़ों सालों की काव्य यात्रा में उड़िया कवि के लिए यह सबसे आत्मीय है। यह आत्मीय सत्ता कभी मित्र तो कभी शत्रु के रूप में प्रविष्ट होती है। सारलादास के 'महाभारत' में दुर्योधन के रक्तनदी संतरण में मृत्यु पुत्र का शव रूप धारण करके आती है तो जगन्नाथ दास के 'भागवत' में शाम्ब के गर्भ में लौहमूसक बन कर, भीमाभोई की

'स्तुति चिंतामणि' में प्रलय की चेतना स्वरूप मृत्यु का आगमन होता है। कभी यह मृत्यु मिथ्या की प्रहेलिका बन कर आती है तो कभी जीवन को निर्भय त्यागने का संदेश ले कर। आधुनिक उड़िया कविता के कर्णधार राधानाथ के 'दरबार' काव्य में मृत्यु का जो स्वरूप वर्णित है उसका उन्नततर रूप प्राप्त होता है सीताकांत की रचनाओं में।

मिट्टी से रूपांतरित मिट्टी का मनुष्य पुनः अपने उद्गम स्थल पर लौट जाने को बेचैन रहता है। तभी उसकी सारी बेचैनी को समाप्त करने मृत्यु परम मित्रवत् मार्ग दिखाती है। मृत्यु जीवन की पूर्णता का बाधक बन कर नहीं आती है, वह सहायिका है। क्योंकि जीवन की पूर्णता की ओर आत्मा के अमृत अभियान में मृत्यु मार्गदर्शिका बनती है, प्रकाश का उत्स बन कर आती है। सीताकांत के प्रायः सभी कविता संकलनों में उपर्युक्त दर्शन का प्रतिपादन हुआ है। जीवन के अंतिम दर्शन के रूप में मृत्यु का आविर्भाव होता है। उदात्त कंठ से सामवेद गान करने वाला कवि मृत्यु के अंधे कलाकार को देख कर यंत्रणा के अव्यक्त आह्वान को अपना लेता है :

''मैं क्यों रोता हूँ वह भी मुट्ठियाँ बाँध बाँध कर
मेरे सीने में विराजमान हैं तारागण
मेरे कण्ठ में सामवेद, यंत्रणा का अव्यक्त आह्वान
मेरी परछाईं में मौत बैठती है
अंधा कलाकार बन
मेरी परछाईं की मुसकराती माया में बैठता है दुःख
दयालु दण्डधर वह मेरा अनजपा मन्त्र
मैं बढ़ता जो हूँ उसी की छाया में।''[5]

चिरंतनता की काव्यभूमि पर प्रतिष्ठित महाकाल चेतना जो मृत्यु के देवता स्वरूप दयालु दंडधर बना बैठा है, उसका नाम, परिचय, आयु, वर्ष, दिन आदि महत्त्वहीन हैं। पता नहीं कब कवि उसका मुखातिब होगा :

''और उस दिन श्मशान में
उसकी चिता जलते समय
मैंने देखा,
न जाने कहाँ से
पागलों की तरह दौड़ते हुए आ कर
वह उसी धधकती आग में
घुस गया

क्या जाने उसके मन में
कौन सी गुप्त बात थी।''[6]

स्वर्गद्वार, (पुरी का श्मशान), मुखाग्नि आदि मृत्यु लोक के संकेत वाहक हैं। कवि ने अपने पिता के अंतिम संस्कार के माध्यम से मृत्यु को पवन के रूप में चित्रित किया है। मृत्यु की आवश्यकता पड़ती है नाले की उत्कट दुर्गंध में, खिलखिलाते चांद में, सुरभिमय पुष्प में। कभी कभी मृत्यु निपट अप्रत्याशित स्थानों पर पहुंच जाती है। चतुर्दिक शून्यता और केवल समुद्र का गर्जन। ऐसा प्रतीत होता है केवल मृत्यु का समुद्र गरज रहा है। मृत्यु का पतंग उदासी चील की भांति निर्मम है तो शिशु की भांति अबोध भी है :

''जाने कितनी दूर
मृत्यु का पतंग, उदासी चील
परत दर परत बादल और आकाश उस पर
उन्मुक्त प्रांतर श्मशान और आकाश
कितने निर्मम, उदार और अबोध हैं दोनों
मृत्यु से कम नहीं हैं वे किसी भी तरह।''[7]

'अपने शेष पर्व के पत्रविहीन बेसहारे स्तब्ध क्षणों में', 'अपने दु:ख के आत्मिक प्रहर में' मृत्यु का आगमन होता है तो न कोई आह्लादमयी संगीत गूंजता है और न संतापकारी ध्वनि सुनायी पड़ती है :

''अब तेरा गीत नहीं
पत्ते नहीं, कलियाँ नहीं, फूल नहीं, फल नहीं
खिलने का दु:ख नहीं, फूलने का शोक नहीं
झड़ने का संताप नहीं।''[8]

यही है मृत्यु का सौंदर्य। शैशवकाल में कवि ने मृत्यु से जो कहा था उसे पुन: स्मरण कराते हुए मृत्यु से निवेदित करता है :

''बचपन में भी कहा न था मृत्यु
फिर चाहे जब आ जाना!
मेघाच्छन्न बरसात में कभी न आना
तब मेरे पास थोड़ा भी समय न होगा तुम्हारे लिए
हस्ताक्षर की कॉपी फर्द-दर-फर्द फाड़ी जा कर
नाव बनाना जारी होगा बहाने के लिए।''[9]

शैशव के स्वप्न और यौवन के जादू घर में मोहग्रस्त कवि सत्ता का बार्धक्य उपस्थित होता है तो अदृश्य श्मशान में अशरीर परछाईं के दर्शन होते हैं। उसके चारों ओर शवों के घेर को वह अस्वीकृत नहीं कर पाता है। अब वह अपने प्रिय मित्र के आगमन हेतु प्रतीक्षारत है :

''अभी भी बुढ़ापे में
घटाटोप बादलों के नदी किनारे
मैं प्रतीक्षारत हूँ
कहीं नावें लोट न रही हों
असंख्य सपनों, यादों,
आशाओं और दुखों को भरकर
बादलों से भी अधिक काली सुरभित मृत्यु के बुलावे से।''[10]

मृत्यु को आना हो तो आये। उसकी विरहाग्नि से हृदय चिरकाल दग्ध है। उसके विरह की तीव्र पीड़ा सह कर भी कवि उसकी प्रतीक्षा में आतुर है :

''क्या तुम्हें नहीं मालूम
मैं हूँ तुम्हारी प्रतीक्षा में
आँखें खुली हैं जिस दिन से
दबे पाँव चले आओ
पास बैठो जरा।''[11]

सीताकांत की मृत्यु चेतना रवींद्रनाथ के अधिक निकट प्रतीत होती है। भौतिकतावादी मृत्यु को अस्पतालों के ऑपरेशन थियेटर, श्मशान या ग्रेवयार्ड तक ही सीमित देखते हैं। परंतु रवींद्रनाथ या सीताकांत मृत्यु को अंतिम परिणति नहीं मानते, इसे वे एक नया प्रारंभ मानते हैं, एक नयी शुरुआत। रवींद्रनाथ के वैयक्तिक जीवन में कादंबरी देवी की मृत्यु ने काफी अधिक प्रभावित किया है। जीवन के अंतिम क्षणों तक वे यह सोचते रहे कि मृत्यु कादंबरी देवी को उनसे छीन कर नहीं ले सकती है। ऐसा ही दूसरा प्रसंग उनके कनिष्ठतम एवं सर्वाधिक प्रिय पुत्र शमींद्रनाथ का है। बिहार से कलकत्ता लौटते समय शमींद्र की मृत्यु का समाचार मिला। शांत, स्निग्ध, धवल ज्योत्स्ना पृथ्वी पर क्रीड़ा कर रही थी। विश्वकवि ने यह चिंतन किया कि ऐसे सुखद, मनोरम एवं हृदयस्पर्शी वातावरण में मृत्यु इतना निर्मम तथा निष्ठुर नहीं बन सकती। उनकी इस चिंतनशीलता के कारण 'मरण हे तुहुं मम श्याम समान', 'शेष नाइ जे शेष कथा के बलबे', 'आघात हइ देखा दिले नतुन इह आसबे' जैसे अनेक प्राणस्पर्शी गीतों का सृजन इसी भावावेग के

हैं। उसी प्रकार सीताकांत की श्रेष्ठ रचनाएं उनके दु:ख एवं शोक से उत्पन्न हैं। 'पवन', 'चढ़ेई रे तु कि जाणु', 'शत्रु' जैसी कविताएं उनके पिता के निधन पर लिखी गयी हैं। हिंदी के प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह ने इन कविताओं की भूरि भूरि प्रशंसा की है।[12]

'आघात हइ देखा दिले नतुन हई आसबे' की तरह सीताकांत मृत्यु को समाप्ति का सूचक नहीं मानते हैं। पिता की कमी महसूस करते हुए कहते हैं :

''आज फिर दिवाली आयी है
और तुम नहीं हो बरामदे में
तुम पूर्वज हो और अब से तुम्हें
अँधेरे में आओ और
उजाले में जाओ कहना होगा
अनुरोध करना होगा
मन नहीं मानता।''[13]

ठीक कादंबरी देवी की अनुपस्थिति को स्वीकार न कर पाने की तरह सीताकांत भी पिता की अनुपस्थिति अस्वीकार करते हुए कहते हैं—मन नहीं मानता।

रवींद्रनाथ और सीताकांत की कविताओं में साम्य ही नहीं वैषम्य भी है। हिंदी के प्रसिद्ध समकालीन कवि गिरधर राठी ने इनकी कविताओं में निहित वैषम्य को दो भागों में बांटा है। पहला, रवींद्रनाथ निर्गुण के उपासक हैं तो सीताकांत जगन्नाथ के भक्त अथवा कृष्णकांत हैं। दूसरा, रवींद्रनाथ की तरह अपनी अतृप्ति, अपूर्णता एवं असंतोष को किसी संपूर्ण की आड़ में सीताकांत ढकना नहीं चाहते।[14]

[4]

मिट्टी, आकाश, जीवन और मृत्यु की दार्शनिक उपलब्धि के साथ साथ सीताकांत ने देश एवं जनता के सुख-दु:ख को भी चित्रित किया है। जनता की दुरावस्था में, देश की प्रतिकूल परिस्थितियों में राजा-मंत्री आदि का कर्त्तव्य बनता है कि वे निष्पेषितों, अवहेलितों के उत्थान हेतु प्रयास करें। परंतु ऐसा नहीं होता है तो कवि मर्माहत हो कर कहता है :

''मंत्री, राजा, कोतवाल, पारिषद वर्ग
सो रहे हैं क्या गहरी नींद में
पी कर कादम्बिनी।''[15]

31.12.08

कवि ने अपने समय के यथार्थ को, युगीन विडंबनाओं को बड़ी आत्मीयता से प्रस्तुत किया है। आम आदमी का दु:ख-दर्द ज्यों का त्यों बना रहता है। परिवर्तित परिस्थितियों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। समय बदलता है पर उसके दु:ख का भार लाघव नहीं होता है :

''पोस्टर, प्रतीक, शपथपत्र, हैंडबिल
कुछ भी तुम्हें प्रभावित नहीं कर पाया
तुम्हारा दुख हर साम्राज्य के अस्त के पश्चात
बचा रहा।''[16]

सीताकांत ने अपने समय के नब्ज को टटोला है। युग सत्य को पहचाना है। आधुनिक जीवन की पीड़ा, आर्त्तनाद, यंत्रणा के हाहाकार को सुन कर दुखी हो कहा है :

''धकेल देते हो
इस छप्पन करोड़ जीवों को
न जाने कितनी दूर
आर्त्तनाद, यंत्रणा के हाहाकार
सैकड़ों आरती, विषाद और क्षोभ
सारी उसाँसें
लाखों प्रार्थनाएँ झगड़े
ढेरों मिन्नतें
भला कैसे और क्यों सुनायी देंगी तुम्हें।''[17]

सृष्टि की कथा को मिथकीय, ऐतिहासिक वैज्ञानिक संदर्भ में प्रस्तुत करने वाली सीताकांत की एक बहुचर्चित कविता है 'चूल्हे की आग'। कविता के अंत में कवि का युगीन संदर्भ साकार हो उठता है :

''अब तुम ले कर आग उसी चूल्हे से
फैलाओ मत दावानल,
ऊँची ऊँची लपटों में धधका कर
जलाओ मत पलक झपकते
गाँव, कसबे, मन्दिर और मस्जिद
विश्वास की विरासत
आकाश और पाताल।''[18]

सीताकांत ने उड़ीसा के सुंदरगढ़ तथा मयूरभंज जिलों के जिलापाल के रूप में कार्य किया था। तभी वे विभिन्न आदिवासी संप्रदायों के संस्पर्श में आये। आदिवासियों को करीब से देखा और उन पर कविताएं भी लिखीं। ऐसी कविताओं में उनकी साहित्यिक प्रतिबद्धता पायी जाती है :

''मैले कुतरे फटे कपड़े के नीचे
गोल-मटोल चाँद दिखता है
सृष्टि का आदिम चाँद
किस उत्सव से भरती हैं दशों दिशाएँ
मूक इतिहास रोता है बच्चों की भूख से।''[19]

सीताकांत के शब्दों में : ''कविता अलगाती नहीं, पर केवल जोड़ती भी नहीं.... कविता अपने भीतर सबको अभिषिक्त करती है, बड़ी खुशी से। अभिमान रहित स्नेह से बुला लाती है, लिवा लाती है जन्म मृत्यु, हंसी-रुलाई, आंसू-लहु को हृदय के शतदल में आसन लगाती है।'' आगे चल कर सीताकांत कविता की सीमा को समझ कर पूछते हैं : ''उठी हुई तलवार या चाकू को उनके खोल में लौटा सकती है? रोक सकती है रास्ते की मार-धाड़ को?'' परंतु कविता निरी लाचार भी नहीं होती कम से कम वह दूसरों की आंखें खोल सकती है, दिखा सकती है : ''चांदनी में पेव्हमेंट पर भूखे पेट सोये चार साल के एकाकी शिशु को, नींद में सोये एक और भूखे नचिकेता को। चेहरे पर कपड़ा हटा कर एक बार देख लो हिंसा, ईर्ष्या, अकाल के शिकार अलीगढ़, नेली, अमृतसर, बेरुत, सहारा के असंख्य शिशु-वृद्ध, युवा-युवतियों के शव।''[20] सीताकांत की दृष्टि में जीवन का स्थान कविता से अधिक ऊंचा है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने मनुष्य जीवन को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए कहा है : ''सारे दुखों, तमाम गहरी भावनाओं को व्यक्त कर पाने में कविता कितनी असमर्थ है! कविता से जीवन कितना ऊंचा है! पहले हम जीना सीखें, सारे इंद्रिय, मन-प्राण और आत्मा के सभी द्वारों को उन्मुक्त रखें। सारी यंत्रणा, सारे दु:ख, तमाम हास्य-रोदन को अपना लें—फिर कविता, चित्रकला, साहित्य। जीवन देवता की आराधना ही सबसे मूल्यवान है'' (अनेक शरद)।

कवि ने अपने समय का वर्णन करते हुए अपनी कविता 'गांव का ऑपेरा' में कहा है :

''कोमल सपने में देखे
रक्तपात, षड्यन्त्र और ईर्ष्या का।''[21]

सीताकांत ने कहा है कि मानव जीवन में प्रेम के साम्राज्य निर्माण से शत्रु भी परम मित्र बन सकता है, असंभव को संभव में बदला जा सकता है :

''पल भर में सामने स्वर्ग दिखेगा
अँधेरे में चारों ओर
रोशनी फैल जायेगी
शरद का सूना आकाश
रूप रंग से दमक उठेगा
चहुँ ओर जीवन चहक उठेगा।''[22]

[5]

समय और शब्द के रूपकार सीताकांत की कविताओं में जीवन और मृत्यु तथा आकाश और पृथ्वी के अनेक रंग-रूप विद्यमान हैं। उन्होंने जीवन के विविध आयामों का पारंपरिक एवं मौलिक दोनों प्रकार से अन्वेषण किया है। इसलिए सीताकांत की कविताएं बार बार पढ़ने की ललक होती है। इनकी कविताएं पढ़ कर पाठक सोचने को विवश होता है। सीताकांत की कविताएं पाठकों के सामने नयी दुनिया खोल देती हैं, अपार संभावनाएं उन्मुक्त कर देती हैं।

संदर्भ

1. सीताकांत महापात्र, तीस कविता वर्ष, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 167
2. वही, पृ. 11
3. सीताकांत महापात्र, अष्टपदी, 1967, पृ. 68
4. सीताकांत महापात्र, लौट आने का समय, 'कविता का जन्म-7', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994
5. सीताकांत महापात्र, लौट आने का समय, 'श्रद्धा बालू का बूढ़ा आदमी', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 68
6. विनोद बिहारी, पवन, चढ़ेई रे तु कि जाणु, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, कटक, 1990, पृ. 21
7. यथोपरि, पृ. 23
8. सीताकांत महापात्र, तीस कविता वर्ष, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 78
9. वही, पृ. 75
10. विनोद बिहारी, पवन चढ़ेई रे तु कि जाणु, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, कटक, 1990, पृ. 30
11. सीताकांत महापात्र, वर्षा की सुबह, 'मृत्यु', राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2004, पृ.17
12. सीताकांत महापात्र, तीस कविता वर्ष, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 12-13
13. विनोद बिहारी, पवन चढ़ेई रे तु कि जाणु, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, कटक, 1990, पृ. 21
14. सीताकांत महापात्र, लौट आने का समय, 'अनुवीक्षा', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 97
15. सीताकांत महापात्र, किससे पूछें बोलो, पृ. 26

16. सीताकांत महापात्र, मतदान केंद्र में, आर दृश्य, 1981
17. सीताकांत महापात्र, समय का शेष नाम, 'दूरी', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1991, पृ. 159
18. सीताकांत महापात्र, वर्षा की सुबह, 'चूल्हे की आग', 2004, पृ. 128
19. सीताकांत महापात्र, समय का शेष नाम, 'तुम्हारे ही गांव में', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1991, पृ. 105
20. सीताकांत महापात्र, तीस कविता वर्ष, भूमिका नहीं, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1994, पृ. 17-20
21. सीताकांत महापात्र, स्नोई और टगर फूल, पदचिह्न, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1996, पृ. 33
22. सीताकांत महापात्र, समय का शेष नाम, 'मुनू के लिए एक कविता', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 1991, पृ. 49

●●●

LIBRARY
P. M. S. MAHAVIDYALAYA
Coll No.....
ACC No 7226 Date 1698